CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३० ६७

16.5

श्रावक धर्म प्रकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ति-संख्या.....
ग्रन्थ-कार्ड
दि० जैन (शोध) संस्थान
ग्रन्थागार
या, वाराणसी-५
धर्म प्रका श
रिलाल जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प-१०९

श्रावकधर्मप्रकाश

श्री पद्मनन्दि आचार्य रचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका के
देशव्रतोद्योतन अधिकार पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के भावभरे प्रवचन

: लेखक :
ब्र. हरिलाल जैन
(सोनगढ)

*

: अनुवादक :
श्री सोनचरण जैन * श्री प्रेमचंद जैन M. Com.
सनावद (म. प्र.)

३०६७

*

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथमावृत्ति वि. संवत् २०२४ वीर नि. सं. २४९४
२१०० प्रतियाँ

मूल्य रु. १-५०

—: मुद्रक :—
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ मैं"

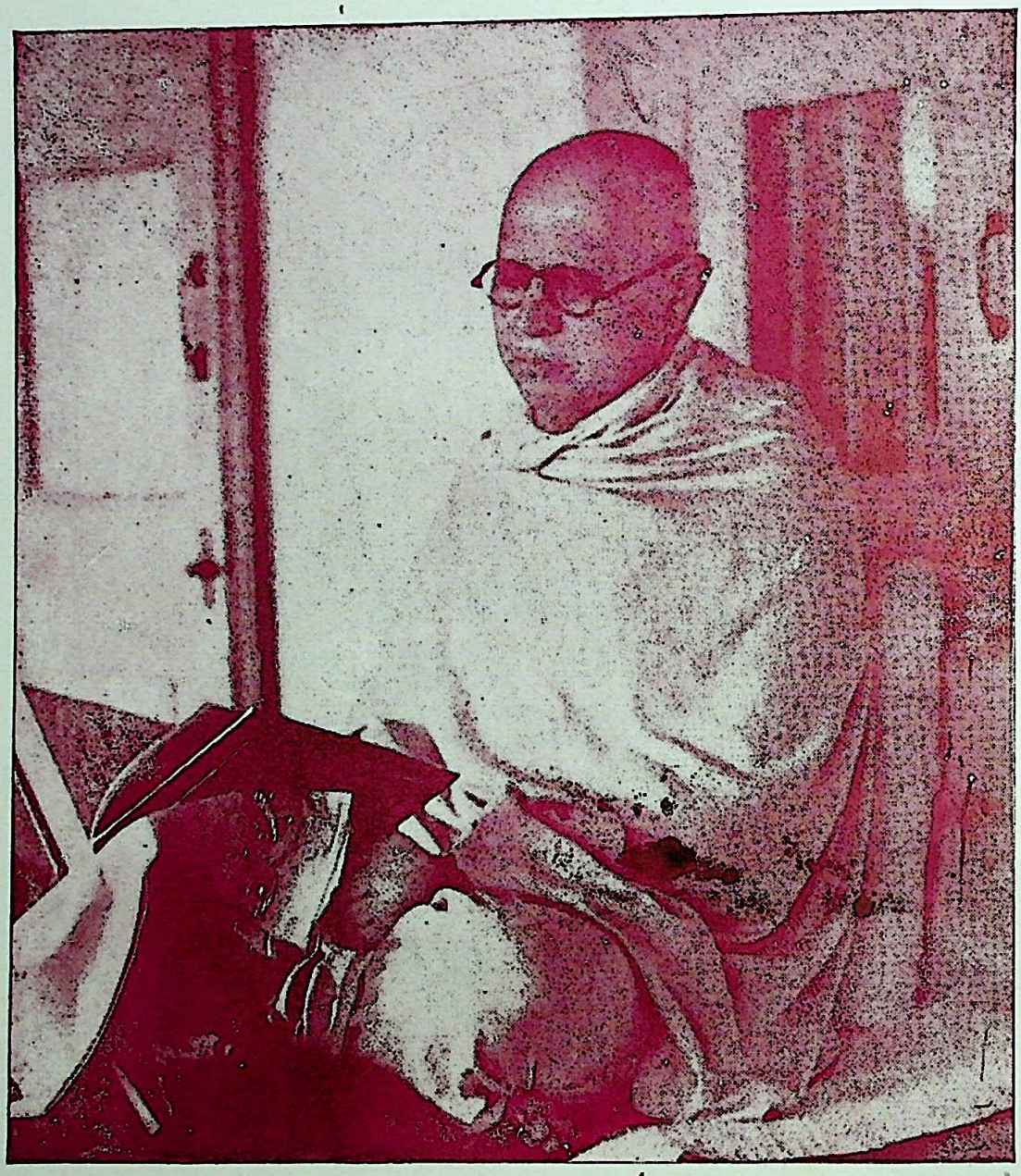

श्रावकधर्म और मुनिधर्म की भावना जिनके अन्तर में वर्त रही है, और उन दोनों धर्मों के मूलरूप सम्यक्त्व की जो निरन्तर उपासना कर रहे हैं, तथा भव्यजीवों को भी सम्यक्त्वप्रधान धर्म का उपदेश देकर उसकी आराधना में लगा रहे हैं, ऐसे पूज्य श्री कानजी स्वामी को अत्यन्त भक्ति से नमस्कार हो !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नमः श्री वर्धमानाय

प्रकाशकीय निवेदन

'श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका' के 'देशव्रतोद्योतन' अधिकार पर परम पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजी स्वामी ने अत्यन्त भाववाही प्रवचन किये इसलिये उनका हम हार्दिक अभिवादन करते हैं। उन प्रवचनों का सुन्दर संकलन ब्र. हरिभाई ने किया और वे गुजराती में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए, उसका हिन्दी अनुवाद प्रगट करते हुए अत्यन्त हर्ष होता है।

इस पुस्तक के अनुवादक श्री सोनचरणजी दि० जैन समाज सनावद के एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तथा अध्यात्मरसिक, सरल और गम्भीर महानुभाव हैं। सोनगढ़ साहित्य के प्रति उनकी विशेष रुचि है। सनावद की अनेक संस्थाओं के वे सदस्य हैं और कपड़े के व्यापारी भी हैं।

दूसरे अनुवादक श्री प्रेमचंदजी जैन M. Com. हैं, और सनावद के श्री मयाचंद दिगम्बर जैन उच्चतर विद्यालय में व्याख्याता हैं। वे भी सोनगढ़ साहित्य के प्रति विशेष प्रेम रखते हैं।

उपरोक्त दोनों महानुभावों ने इस हिन्दी अनुवाद को अत्यन्त उल्लासपूर्वक और बिलकुल निस्पृहभाव से तैयार कर दिया है। इसलिए उनको धन्यवाद देने के साथ उनका उपकार मानते हैं।

अनुवाद का संशोधन-कार्य श्री पं० मूलचंदजी शास्त्री, सनावद तथा श्री पं० वंशीधरजी शास्त्री M. A. कलकत्ता वालों ने कर दिया है। तथा जतीशचन्द्रजी सनावद वालों ने प्रकाशन के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से सहायता की है इसलिए उनका अंतःकरण पूर्वक आभार मानते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ श्री भँवरदेवी जैन, सुपुत्री श्री ताराचंदजी गंगवाल जयपुरवालों की तरफ से रुपये १५०१), श्री राजमलजी जैन गुनावालों की तरफ से उनकी धर्मपत्नी के स्मरणार्थ रुपये ११०१) तथा श्री नाजुकबाई, धर्मपत्नी श्री सोनचरणजी जैन सनावद वालों की तरफ से रुपये १००१) की उदार सहायता मिली है, इसलिये उन सबको धन्यवाद।

अजित मुद्रणालय के मालिक श्री मगनलालजी जैन ने इस पुस्तक का मुद्रण-कार्य सुन्दर ढंग से कर दिया है अतः उनका आभार मानते हैं।

इन प्रवचनों में श्रावक के कर्त्तव्य का जो स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूप से पूज्य गुरुदेव ने दर्शाया है उसका अनुसरण करने के लिए हम सब निरन्तर प्रयत्नशील रहें...यही भावना।

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा
वीर सं. २४९४

साहित्य प्रकाशन समिति,
श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ (सौराष्ट्र)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—: निवेदन :—

'श्रावक' अर्थात् मुनि का लघुभ्राता! उसका जीवन भी कैसा पवित्र आदर्श-रूप और महान है—वह इन प्रवचनों को पढ़ने पर समझ में आयेगा। इस पुस्तक में श्रावक के धर्मों का सर्वांग सुन्दर वर्णन है। गृहस्थदशा में रहनेवाला श्रावक भी मोक्षमार्ग में गमन करता है। ऐसे श्रावक को धर्माचरण कैसा होता है उसका विस्तृत वर्णन करते हुए प्रथम तो 'सर्वज्ञ की श्रद्धा' होना बतलाया है। साथ ही उसकी शुद्धदृष्टि कैसी हो और व्यवहार—आचरण कैसा हो तथा पूजा—भक्ति, दया—दान, साधर्मी-प्रेम, स्वाध्याय इत्यादि के परिणाम कैसे हों? इसका भी विस्तृत वर्णन किया है।

निश्चय के साथ सुसंगत व्यवहार का इतना सुन्दर स्पष्ट, भावभरा उपदेश श्री रत्नकरंड श्रावकाचार जैसे प्राचीन ग्रंथों के अतिरिक्त आधुनिक साहित्य में देखने को नहीं मिलता। इस शैली के प्रवचनों का यह प्रथम ही प्रकाशन है। गृहस्थ श्रावकों के धर्म-कर्त्तव्य का इसमें विस्तृत उपदेश होने से सबके लिए उपयोगी है। श्रावकधर्म का ऐसा सरस वर्णन भाव से पढ़ने पर पढ़नेवाले को ऐसी ऊर्मियाँ जागृत होती हैं—मानों स्वयं ही उस धर्म का आचरण कर रहा हो, आहारदान का वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही मुनिवरों को भक्ति से आहार दे रहा हो! जिन-प्रतिमा का वर्णन पढ़ते समय मानों स्वयं ही प्रतिमाजी की स्थापना या पूजन कर रहा हो! ऐसे भाव जागृत होते हैं। दान का वर्णन पढ़ने पर तो निर्लोभता से हृदय एकदम प्रसन्न हो उठता है, और देव—गुरु की भक्ति का वर्णन पढ़ते समय तो मानो हम संसार को भूल ही जाते हैं और जीवन देव—गुरुमय बन जाता है। तदुपरान्त साधर्मी के प्रति वात्सल्य इत्यादि का वर्णन भी धार्मिक प्रेम की पुष्टि करता है। सर्वज्ञदेव की पहिचान और प्रतीति तो सम्पूर्ण पुस्तक में प्रारम्भ से अंत तक व्यक्त की हुई है।

इस श्रावकधर्म के प्रवचनकार पू. श्री कानजी स्वामी का मेरे जीवन में परम उपकार है। २५ वर्ष से पू. गुरुदेव की मंगल-छाया में निरन्तर रहने के सुयोग से और उनकी कृपा से मेरे जीवन में जो महान लाभ हुआ है, इसके उपरांत पू. गुरुदेव के अनेक प्रवचन लिखने का और उनको ग्रंथारूढ़ करने का सुयोग मुझे मिला है, उसको मैं मेरे जीवन में महद् सद्भाग्य मानता हूँ...और इसी प्रकार सदैव गुरुदेव की मंगल चरणसेवा करता हुआ आत्महित की साधना करूँ और शुद्ध श्रावकधर्म के पालन का मुझे शीघ्र अवसर मिले ऐसी भावना भाता हूँ। जयजिनेन्द्र

वीर सं. २४९५ आसो सुद १ —ब्र. हरिलाल जैन
सोनगढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वीतरागाय नमः

अनुवादकों की ओर से

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित जैन-साहित्य की सर्व-विख्यात एवं अनुपम कृति "पद्मनंदि पंचविंशतिका" के सातवें अधिकार "देशव्रत-उद्योतन" पर पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजी स्वामी द्वारा दिये गए प्रवचनों का संग्रह "श्रावकधर्मप्रकाश" (गुजराती) देखने का सौभाग्य मिला। इस अनुपम संग्रह का लाभ हिन्दीभाषी मुमुक्षु भाई-बहिनों को प्राप्त हो इस भावना से इसका अनुवाद हिन्दी में करने का भाव हुआ। श्रावकों को प्रतिदिन के छह कर्त्तव्यों (षट् आवश्यकों) के परिज्ञान की आवश्यकता है। स्वामीजी के इन सुबोध प्रवचनों से इन कर्त्तव्यों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। इस ग्रंथ के अनुवाद-कार्य में हमें सोनगढ़ साहित्य-प्रकाशन समिति की ओर से पूर्ण सहयोग व मार्ग-दर्शन मिलता रहा जिसके लिए हम आभारी हैं।

अनुवाद में कहीं भी मूल गुजराती पुस्तक के भाव में अंतर न पड़े इस का पूरा ध्यान रखने का प्रयत्न किया है, तथापि प्रमाद एवं अज्ञानवश जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें सुहृद पाठक-जन पूर्वापर प्रसंग के आधार पर सही करते हुए हम पर कृपाभाव रखेंगे ऐसी आशा है।

अंत में पुनः पुनः सत्पुरुष आत्मज्ञ संत पू. गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम उपकार मानते हैं जिनके परम प्रभाव से हमें यह सत्प्रेरणा प्राप्त हुई। इत्यलम्।

दि. १० सित. १९६८
सनावद (म. प्र.)

संतचरण सेवी—
—सोनचरण जैन
—प्रेमचंद जैन M. Com.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
*	प्रवचन का उपोद्घात	१
१	सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक श्रावक धर्म	३
२	धर्म के आराधक सम्यक्दृष्टि की प्रशंसा	१०
३	मोक्ष का बीज सम्यक्त्व, संसार का बीज मिथ्यात्व ...	२०
	(सम्यक्दर्शन हेतु परम प्रयत्न का उपदेश)	
४	सम्यक्त्व पूर्वक व्रत का उपदेश	२९
५	श्रावक के व्रतों का वर्णन	४०
६	श्रावक के बारह व्रत	४५
७	गृहस्थ को सत्पात्रदान की मुख्यता	४९
८	आहारदान का वर्णन	५५
९	औषधदान का वर्णन	६१
१०	ज्ञानदान अथवा शास्त्रदान का वर्णन	६४
११	अभय दान का वर्णन	७२
१२	श्रावक को दान का फल	७६
१३	अनेक प्रकार पापों से बचने के लिये गृहस्थ दान करे	८१
१४	गृहस्थपना दान से ही शोभता है	८७
१५	पात्रदान में उपयोग हो वही सच्चा धन है	९०
१६	पुण्यफल को छोड़कर धर्मी जीव मोक्ष को साधता है	९४
१७	मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे ...	९८
१८	जिनेन्द्र-दर्शन का भावभरा उपदेश	१०३
१९	धर्मात्मा इस कलियुग के कल्पवृक्ष हैं	१०९
२०	धर्मी-श्रावकों द्वारा धर्म का प्रवर्तन	११२
२१	जिनेन्द्र-भक्तिवंत श्रावक धन्य है	११५
२२	सच्ची जिनभक्ति में वीतरागता का आदर	११९
२३	श्रावक की धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार	१२८
२४	श्रावक को पुण्यफलप्राप्ति और मोक्ष की साधना ...	१३२
२५	मोक्षमार्ग में निश्चय सहित का व्यवहारधर्म मान्य है ...	१३८
२६	मोक्ष की साधना सहित ही अणुव्रतादि की सफलता ...	१४३
२७	श्रावकधर्म की आराधना का अंतिम फल मोक्ष ...	१४६

* स्वतंत्रता की घोषणा (वस्तुस्वरूप की स्वतंत्रता दर्शाने वाले दो विशिष्ट प्रवचन)

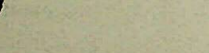

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ॐ

श्री सर्वज्ञदेव को नमस्कार हो

प्रवचन का उपोद्घात

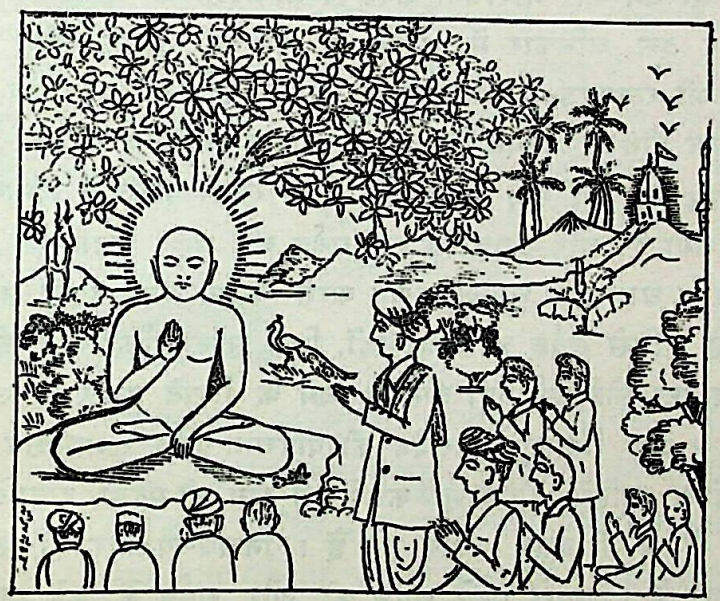

यह पद्मनंदी पंचविंशतिका नामक शास्त्र का सातवाँ अधिकार चल रहा है। आत्मा के आनंद में झूलते और वन-जंगल में निवास करते वीतरागी दिगम्बर मुनिराज श्री पद्मनंदी स्वामी ने लगभग ९०० वर्ष पहले इस शास्त्र की रचना की थी। इसमें कुल छब्बीस अधिकार हैं, उनमें से सातवाँ "देशव्रत-उद्योतन" नाम का अधिकार चल रहा है। मुनिदशा की भावना धर्मी को होती है, परन्तु जिसके ऐसी दशा न होसके वह देशव्रतरूप श्रावक के धर्म का पालन करता है। उस श्रावक के भाव कैसे होते हैं, उसको सर्वज्ञ की पहचान, देव-शास्त्र-गुरु का बहुमान आदि भाव कैसे होते हैं, आत्मा के भानसहित राग की मंदता के प्रकार कैसे होते हैं वे इसमें बताये गये हैं। इसमें निश्चय-व्यवहार का सामंजस्यपूर्ण सुन्दर वर्णन है। यह अधिकार जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने से प्रवचन में तीसरी बार चल रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। पूर्व में दो बार (वीर सं. २४७४ तथा २४८१ में) इस अधिकार पर प्रवचन हो चुके हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी को यह शास्त्र बहुत प्रिय था, उन्होंने इस शास्त्र को "वनशास्त्र" कहा है, और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक उसके अभ्यास का फल अमृत है–ऐसा कहा है।

"देश-व्रतोद्योतन" अर्थात् गृहस्थदशा में रहने वाले श्रावक के धर्म का प्रकाश कैसे होवे उसका इसमें वर्णन है। गृहस्थदशा में भी धर्म हो सकता है। सम्यग्दर्शन सहित शुद्धि किस प्रकार बढ़ती है और राग किस प्रकार टलता है, और श्रावक भी धर्म की आराधना करके परमात्मदशा के सन्मुख किस प्रकार जावे वह बताकर इस अधिकार में श्रावक के धर्म का उद्योत किया गया है। समंतभद्रस्वामीने भी रत्नकरंड–श्रावकाचार में श्रावक के धर्मों का वर्णन किया है, वहाँ धर्म के ईश्वर तीर्थंकर भगवन्तों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को धर्म कहा है—(सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः)। उसमें सबसे पहले ही सम्यग्दर्शन धर्म का वर्णन किया गया है, और उसका कारण सर्वज्ञ की श्रद्धा बताई गई है। यहाँ भी पद्मनंदी मुनिराज श्रावक के धर्मोंका वर्णन करते समय सबसे पहले सर्वज्ञदेव की पहिचान कराते हैं। जिसे सर्वज्ञ की श्रद्धा नहीं, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे तो मुनि का अथवा श्रावक का कोई धर्म नहीं होता। धर्म के जितने प्रकार हैं उनका मूल तो सम्यग्दर्शन है। अतः जिज्ञासु को सर्वज्ञ की पहिचान पूर्वक सम्यग्दर्शन का उद्यम तो सबसे पहले होना चाहिये। उस भूमिका में भी राग की मंदता, इत्यादि के प्रकार किस प्रकार होते हैं, वे भी इसमें बताये गये हैं। निश्चय-व्यवहार की संधि सहित सरस बात की गई है। सबसे पहले सर्वज्ञ को और सर्वज्ञ के कहे हुए धर्म की पहिचान करने के लिये कहा गया है।

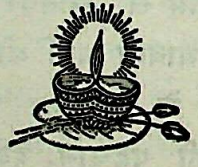

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१]

सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म

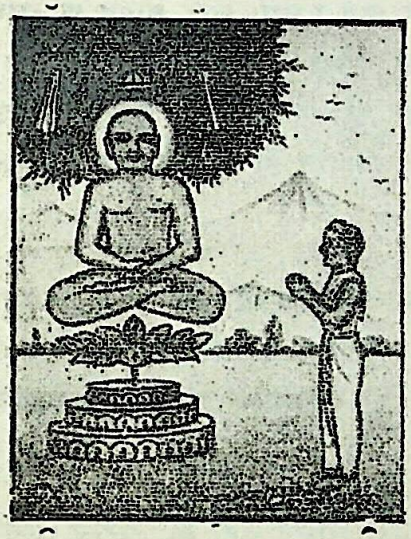

श्रावक को प्रथम तो भगवान सर्वज्ञदेव और उनके वचनों की पहिचान तथा श्रद्धा होती है। सर्वज्ञ के स्वरूप में और उनके वचन में जिसे भ्रम होता है वह तो मिथ्यात्व के महापाप में पड़ा हुआ है, उसे देशव्रत अथवा श्रावकपना होता नहीं.....यह उद्घोषणा करने वाला प्रथम श्लोक इस प्रकार है—

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चिताम्।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥ १ ॥

देशव्रतरूप श्रावकधर्म का वर्णन करते समय सबसे पहले कहा जाता है कि सर्वज्ञदेव के द्वारा कहा हुआ धर्म का स्वरूप ही सत्य है, इसके सिवाय अन्य का कहा हुआ सत्य नहीं,—श्रावक की ऐसी निःशंक श्रद्धा होनी चाहिये; क्योंकि धर्म के मूल प्रणेता सर्वज्ञदेव हैं, जिसे उनका ही निर्णय नहीं उसे धर्म का निर्णय हो सकता नहीं।

जो सर्वज्ञ हुए वे किस रीति से हुए?

"समस्त बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह को छोड़कर और शुक्ल-ध्यान द्वारा चार घाति कर्मों का नाश करके सर्वज्ञपना प्राप्त किया।" देखो शुक्लध्यान कहो कि शुद्धोपयोग कहो उससे कर्मों का क्षय होकर सर्वज्ञता प्रगट होती है, परन्तु बाहर के कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधन से अथवा राग के अवलंबन से कोई सर्वज्ञता नहीं प्रगटती। मोक्षमार्ग प्रकाशक के मंगलाचरण में भी अरिहन्तदेव को नमस्कार करते समय पं. श्री टोडरमलजी ने कहा है कि—"जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निज स्वभावसाधन से चार घाति कर्मों का क्षय कर अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुए हैं...ऐसे श्री अरिहन्तदेव को हमारा नमस्कार हो"। मुनिधर्म कैसा? शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म, उसको अंगीकार करके, भगवान ने निजस्वभाव साधन से कर्मों का क्षय किया; कोई बाहर के साधन से अथवा राग के साधन से नहीं, परन्तु उन्होंने निश्चयरत्नत्रयरूप निजस्वभाव के साधन से ही कर्मों का क्षय किया। इससे विपरीत साधन माने तो उसने भगवान का मार्ग जाना नहीं, भगवान को पहिचाना नहीं। भगवान को पहिचानकर नमस्कार करे तो ही सच्चा नमस्कार कहलावे।

यहाँ प्रथम ही कहा गया है कि बाह्य-अभ्यन्तर संग को छोड़कर शुक्ल-ध्यान से प्रभु ने केवलज्ञान पाया; अर्थात् कोई जीव घर में रहकर के बाहर में वस्त्रादिक का संग रखकर के केवलज्ञान पा जावे ऐसा बनता नहीं। अंतरंग के संग में मिथ्यात्वादि मोह को छोड़े बिना मुनिदशा या केवलज्ञान होता नहीं।

मुनि के महाव्रतादि का राग केवलज्ञान का साधन नहीं है, परन्तु उनको शुद्धोपयोगरूप निजस्वभाव ही केवलज्ञान का साधन है, उसे ही मुनिधर्म कहा गया हैं। यहाँ उत्कृष्ट बात बताने का प्रयोजन होने से शुक्लध्यान की बात ली गई है। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगी मुनि को ही होता है। केवलज्ञान का साधनरूप यह मुनिधर्म, मूल सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन सर्वज्ञदेव को तथा उनके वचनों की पहिचान-पूर्वक होता है; इसलिये यहाँ श्रावक के धर्म के वर्णन में सबसे पहिले ही सर्वज्ञदेव की पहिचान की बात ली गई है।

आत्मा का भान करके, मुनिदशा प्रगट करके, शुद्धोपयोग की उग्र श्रेणी मांड करके जो सर्वज्ञ हुए उन सर्वज्ञ परमात्मा के वचन ही सत्यधर्म का निरूपण करने वाले हैं; ऐसे सर्वज्ञ को पहिचानने से आत्मा के ज्ञानस्वभाव की प्रतीति होती है और तब ही धर्म की शुरुआत होती है। जो सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं करता उसे आत्मा की ही प्रतीति नहीं, धर्म की ही प्रतीति नहीं; उसे तो शास्त्रकार "महापापी अथवा अभव्य" कहते हैं। उसमें धर्म समझने की योग्यता नहीं, इसलिये उसे अभव्य कहा गया है। जिसे सर्वज्ञ के स्वरूप में संदेह है, सर्वज्ञ की वाणी में जिसे संदेह है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वज्ञ के सिवा अन्य कोई सत्यधर्म का प्रणेता नहीं—ऐसा जो पहिचानता नहीं और विपरीत मार्ग में दौड़ता है वह जीव मिथ्यात्वरूप महापाप का सेवन करता है, उसमें धर्म के लिये योग्यता नहीं। ऐसा कहकर धर्म के जिज्ञासु को सबसे पहले सर्वज्ञ की और सर्वज्ञ के मार्ग की पहिचान करने को कहा।

अरे! तू ज्ञान की प्रतीति के बिना धर्म कहाँ करेगा? राग में खड़ा रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती। राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्ष्यपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके उसके अनुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यक्त्वी ज्ञानी के जो वचन हैं वे भी सर्वज्ञ-अनुसार हैं क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराजमान हैं। जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हों उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते।

देखो, यह श्रावकधर्म का प्रथम चरण! यहाँ श्रावकधर्म का वर्णन करना है। सर्वज्ञदेव की पहिचान श्रावकधर्म का मूल है। मुनि के या श्रावक के जितने भी धर्म हैं उनका मूल सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ की प्रतीति के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक के देशव्रत या मुनि के महाव्रत नहीं होते। सम्यक्दर्शन सहित देशव्रती श्रावक कैसा होता है, उसके स्वरूप का इसमें वर्णन है इसलिये इस अधिकार का नाम 'देशव्रतोद्योतन अधिकार' है। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मस्वभाव प्रगट किया और जैसा वाणी द्वारा कहा वैसा आत्मा के अनुभव सहित निर्विकल्प प्रतीति करना सम्यक्दर्शन है। सर्वज्ञ किस प्रकार हुए और उन्होंने क्या कहा इसका यथार्थ ज्ञान सम्यक्दृष्टि को ही होता है। अज्ञानी को तो सर्वज्ञ किस प्रकार हुए उसके उपाय की भी खबर नहीं और सर्वज्ञदेव ने क्या कहा उसकी भी खबर नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि जो सर्वज्ञ के मार्ग को नहीं पहचानता और विपरीत मार्ग का आदर करता है उसकी बुद्धि भ्रमित है, वह भ्रमबुद्धि वाला है, मिथ्यात्वरूप महापाप में डूबा हुआ है। गृहस्थ का धर्म भी उसे नहीं होता तो मुनिधर्म की बात ही क्या!

'बाह्य और अन्तरंग सर्वसंग छोड़कर शुक्लध्यान द्वारा भगवान सर्वज्ञ हुए हैं;' सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान तो पहले था, पीछे मुनि होने पर बाह्य सर्व परिग्रह छोड़ा, और अन्तरंग की अशुद्धता छोड़ी। जहाँ अशुद्धता छोड़ी वहाँ निमित्तरूप में बाह्यसंग छोड़ा—ऐसा कहा जाता है। मुनिदशा में समस्त बाह्यसंग का त्याग है, देह के ऊपर वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता, भोजन भी हाथ में लेते हैं, जमीन पर सोते हैं;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तरंग में शुद्धोपयोगरूप आचरण द्वारा अशुद्धता और उसके निमित्त छूट गये हैं। शुद्धोपयोग की धारारूप जो शुक्लध्यान, उसके द्वारा स्वरूप को ध्येय में लेकर पर्याय को उसमें लीन होने का नाम ध्यान है, उसके द्वारा घाति कर्मों का नाश होकर केवल-ज्ञान हुआ है। देखो, पहिले पर्याय में अशुद्धता थी, ज्ञान-दर्शन अपूर्ण थे, मोह था, इसलिये घातिया कर्मों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, और अब शुद्धता होते, अशुद्धता दूर होते कर्मों के साथ का सम्बन्ध छूट गया, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य परिपूर्ण रूप से प्रगट हो गये और कर्मों का नाश हो गया—किस उपाय से? शुद्धोपयोगरूप धर्म द्वारा।—इस प्रकार इसमें ये तत्त्व आ जाते हैं; बन्ध, मोक्ष, और मोक्षमार्ग। जो सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए ऐसे तत्त्वों का स्वरूप समझे, उसे ही श्रावकधर्म प्रकट होता है।

धर्म का कथन करने में सर्वज्ञदेव के वचन ही सत्य हैं, अन्य के नहीं। सर्वज्ञ को माने बिना कोई कहे कि मैं स्वयमेव जानकर धर्म कहता हूँ—तो उसकी बात सच्ची नहीं होती और सर्वज्ञ-अरहन्तदेव के सिवा अन्य मत भी एक समान हैं—ऐसा जो माने उसे भी धर्म के स्वरूप की खबर नहीं। जैन और अजैन सब धर्मों को समान माननेवाले को तो व्यवहार श्रावकपना भी नहीं। इसलिये श्रावक के धर्म के वर्णन के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कहा है कि सर्वज्ञ के वचन द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है और अन्य सत्य नहीं, ऐसी प्रतीति श्रावक को पहले ही होना चाहिये।

अहा, सर्वज्ञ! ये तो जैनधर्म के देव हैं; देव के स्वरूप को भी जो न पहिचाने उसे धर्म कैसा? तीनलोक और तीनकाल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायों को वर्तमान में सर्वज्ञदेव प्रत्येक समय में स्पष्ट जानते हैं, ऐसी बात भी जिसे नहीं बैठती उसे तो सर्वज्ञदेव की या मोक्षतत्त्व की प्रतीति नहीं, और आत्मा के पूर्ण ज्ञानस्वभाव की भी उसे खबर नहीं। श्रावक धर्मात्मा तो भ्रान्तिरहित सर्वज्ञदेव का स्वरूप जानता है और ऐसा ही निजस्वरूप साधता है। जैसे लेंडीपीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठ पुटी चरपराहट भरी है वही व्यक्त होती है, उसी प्रकार जगत् के अनन्त जीवों में से प्रत्येक जीव में सर्वज्ञता की शक्ति भरी है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होने से वह प्रगट होती है। देह से भिन्न, कर्म से भिन्न, राग से भिन्न और अल्पज्ञता से भी भिन्न परिपूर्ण ज्ञ-स्वभावी आत्मा जैसा भगवान ने देखा और स्वयं प्रगट किया वैसा ही वाणी में कहा। वैसी आत्मा की और उसके कहनेवाले सर्वज्ञ की प्रतीति करने जाये वहाँ रागादि की रुचि नहीं रहती; संयोग, विकार या अल्पज्ञता की रुचि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छूटकर स्वभावसन्मुख रुचि होती है तभी सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान होती है और तभी श्रावकपना प्रकट होता है। जैनकुल में जन्म लेने से ही कोई श्रावक नहीं हो जाता परन्तु अन्तर में जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव की पहिचान करे और उनके द्वारा कहे हुए वस्तुस्वरूप को पहिचाने तभी श्रावकपना होता है। अरे, श्रावकपना किसे कहते हैं इसकी भी बहुत से जीवों को खबर नहीं। इसलिये यहाँ देशव्रत-उद्योतन में पद्मनन्दीस्वामी ने श्रावक के धर्म का उद्योत किया है, उसका स्वरूप प्रकाशित किया है।

मांगलिक में हमेशा बोलते हैं कि 'केवलिपण्णत्तो धम्मो शरणं पव्वज्जामि'—अर्थात् मैं केवली भगवान के द्वारा कहे हुए धर्म की शरण ग्रहण करता हूँ। परन्तु सर्वज्ञ—केवली कैसे हैं और उनके द्वारा कहे हुए धर्म का स्वरूप कैसा है उसकी पहिचान बिना किसकी शरण लेगा? पहिचान करे तो सर्वज्ञ के धर्म की शरण लेना कहलाता है, और उसे स्वाश्रय से सम्यक्दर्शनादि धर्म प्रगट होते हैं। मात्र बोलने से धर्म की शरण नहीं मिलती, परन्तु केवली भगवान ने जैसा धर्म कहा है उसकी पहिचान करके अपने में वैसा भाव प्रगट करे तो केवली के धर्म की शरण ली कहलाये।

सबसे पहले सर्वज्ञदेव की और उनके द्वारा कहे हुए धर्म की पहिचान करने को कहा गया है। शास्त्रकार ने मात्र बाह्य अतिशय द्वारा या समवशरण के वैभव द्वारा भगवान की पहिचान नहीं कराई परन्तु सर्वज्ञतारूप चिह्न द्वारा भगवान की पहिचान कराई, तथा उनके द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है ऐसा कहा है। जगत में छह प्रकार के स्वतंत्र द्रव्य, नौ तत्त्व, और प्रत्येक आत्मा का पूर्ण स्वभाव दिखाकर स्वाश्रय से धर्म बतानेवाली सर्वज्ञ की वाणी, और रागादिक पराश्रितभाव से धर्म मनवाने वाली अज्ञानी की वाणी,—इनके बीच विवेक करना चाहिये। स्वाश्रित शुद्धोपयोग रूप शुक्लध्यान के साधन से भगवान सर्वज्ञ हुए हैं।

प्रश्नः—यह शुक्लध्यान कैसा है? क्या इस शुक्लध्यान का रंग सफेद है?

उत्तरः—अरे भाई, शुक्लध्यान यह तो चैतन्य के आनंद के अनुभव में लीनता की धारा है, यह तो केवलज्ञानप्राप्ति की श्रेणी है। इसका रंग नहीं होता। सफेद रंग वह तो रूपी पुद्गल पर्याय है। यहाँ शुक्लध्यान में 'शुक्ल' का अर्थ सफेद रंग नहीं परन्तु शुक्ल का अर्थ है राग की मलिनता बिना, उज्ज्वल पवित्र; यह शुक्लध्यान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो अरूपी आत्मा की अरूपी पर्याय है, इस स्वरूप-साधन द्वारा ही भगवान ने केवलज्ञान पाया है। ऐसे साधन को पहिचाने तो भगवान की सच्ची पहिचान होवे। इस सर्वज्ञता को साधते साधते वन-निवासी सन्त पद्मनन्दी मुनिराज ने यह शास्त्र रचा है। वे भी आत्मा की शक्ति में जो पूर्णानन्द भरा है उसकी प्रतीति करके उसमें लीनता द्वारा बोलते थे, सिद्ध भगवान के साथ अन्तर में अनुभव द्वारा बात करते थे और सिद्धप्रभु जैसा अतीन्द्रिय आनन्द का बहुत अनुभव करते थे; वहाँ भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा गया है। गृहस्थ का धर्म बताते हुए कहते हैं कि—अरे जीव, सबसे प्रथम तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही तेरी सच्ची जाति तुझे पहिचान में आ जावेगी।

महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में सर्वज्ञ परमात्मा सीमंधरादि भगवन्त विराज रहे हैं, वहाँ लाखों सर्वज्ञ भगवंत हैं, ऐसे अनंत हो गये हैं और प्रत्येक जीव में ऐसी शक्ति है। अहो, आत्मा की पूर्णदशा को प्राप्त सर्वज्ञ परमात्मा इस लोक में विराज रहे हैं—ऐसी बात कान में पड़ते ही जिसे आत्मा में ऐसा उल्लास आया कि वाह! आत्मा का ऐसा वैभव! आत्मा की ऐसी अचिंत्य शक्ति! ज्ञानस्वभाव में सर्वज्ञ होने की और पूर्ण आनंद की शक्ति है; मेरी आत्मा में भी ऐसी ही शक्ति है।—इस प्रकार स्वभाव की महिमा जिसे जागृत हुई उसे शरीर की, राग की या अल्पज्ञता की महिमा नष्ट हो जाती है और उसकी परिणति ज्ञानस्वभाव की ओर झुक जाती है। उसका परिणमन संसारभाव से पीछे हटकर सिद्धपद की ओर लग जाता है। जिसकी ऐसी दशा होती है उसे ही सर्वज्ञ की सच्ची श्रद्धा हुई है, और सर्वज्ञदेव ने अल्प काल में ही उसकी मुक्ति देखी है।

सर्वज्ञता की महिमा की तो बात ही क्या है! इस सर्वज्ञ की पहिचान में भी कैसे अपूर्व भाव होते हैं और उसमें कितना पुरुषार्थ है उसकी लोगों को खबर नहीं। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही मुमुक्षु को उनके प्रति अपार भक्ति उल्लसित होती है। जहाँ पूर्ण ज्ञान-आनंद को प्राप्त ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति पहिचानपूर्वक यथार्थ भक्ति उल्लसित हुई वहाँ अब अन्य किसी की (पुण्य की या संयोग की) महिमा रहती ही नहीं, उसका आदर नहीं रहता, और संसार में भटकने का भी संदेह नहीं रहता। अरे, जहाँ ज्ञानस्वभाव का आदर किया और जिस ज्ञान में सर्वज्ञ की स्थापना की उस ज्ञान में अब भव कैसा? ज्ञान में भव नहीं, भव का संदेह नहीं। अरे जीव! एकबार तो सर्वज्ञ को पहिचानकर उनके गीत गा। इस पृथ्वी-तल का हरिण भी जिन भगवान के गीत सुनने के लिये ठेठ चन्द्रलोक में गया, तो यहाँ संत सर्वज्ञता की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महिमा का गुणगान सुनायें और उसको सुनते हुए मुमुक्षु को भक्ति का उल्लास न होवे ऐसा कैसे बने? ऐसे सर्वज्ञ की पहिचान यह श्रावक का पहला लक्षण है, और यह धर्म का मूल है। जो सर्वज्ञ को नहीं पहिचानता, जिसे उसके वचनों में भ्रम है और जो विपरीत मार्ग को मानता है उसे तो श्रावकपना होता नहीं और शुभभाव का भी ठिकाना नहीं, मिथ्यात्व की तीव्रता के कारण उसे महापापी अथवा अपात्र कहा है। इसलिये मुमुक्षु को सबसे प्रथम सर्वज्ञदेव की पहिचान करनी चाहिए।

अहो नाथ! आपने एक समय में तीनकाल तीनलोक को साक्षात् जाना और दिव्यवाणी में आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव को प्रगट किया; आपकी वह वाणी हमने सुनी तो अब आपकी सर्वज्ञता में अथवा मेरे ज्ञानस्वभाव में संदेह नहीं रहा। आत्मा में शक्ति भरी है उसमें से सर्वज्ञता प्रगट होती है—ऐसी आत्मशक्ति को जिसे प्रतीति नहीं और बाहर के साधन से धर्म करना चाहता है वह तो बड़ा अविवेकी है, दृष्टि-हीन है। ज्ञानस्वभाव की और सर्वज्ञ की श्रद्धा बिना "शास्त्र में ऐसा लिखा है और उसका अर्थ ऐसा होता है"—ऐसा ज्ञानी के साथ वाद-विवाद करे वह तो, आकाश में उड़ते पक्षियों को गिनने के लिये आँखों वाले के साथ अंधा होड़ करे—इस प्रकार है। ज्ञानस्वभाव की दृष्टि बिना, सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए शास्त्र के अर्थ को प्रगट करना अशक्य है। अतः पहले ही श्लोक में सर्वज्ञ की और उसकी वाणी की पहिचान करने को कहा गया है। सर्वज्ञ की श्रद्धा मोक्ष के मण्डप का माणिकस्तंभ है; उस सर्वज्ञ के अर्थात् मोक्षतत्त्व के गाने गाकर उसकी श्रद्धारूप मांगलिक किया।

अब ऐसे सर्वज्ञ की पहिचान वाले सम्यग्दृष्टि जीवों की विरलता बताकर उसकी महिमा करते हुए दूसरे श्लोक में कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अकेला हो तो भी इस लोक में शोभनीक और प्रशंसनीय है।

दंसण मूलो धम्मो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२]

धर्म के आराधक सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा

जगत में सवज्ञ का अनुसरण करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव तो वहुत थोड़ हैं, और उनसे विरुद्ध मिथ्यादृष्टि जीव बहुत हैं, एसा किसी को लगे तो कहते हैं कि—हे भाई ! आनन्ददायक ऐसे अमृत-पथरूप मोक्षमाग में स्थित सम्यग्दृष्टि कदाचित् एक ही हो तो वह अकेला शोभनीक और प्रशंसनीय है, और मोक्षमार्ग से भ्रष्ट ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव वहुत से होवें तो भी वे शोभनीक नहीं। ऐसा कहकर सम्यक्त्व की आराधना में उत्साह उत्पन्न करते हैं।

☆

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने
सः श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ।
अन्यः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैः अत्यन्तदूरीकृत
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैः मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥ २ ॥

देखिये, इस सम्यग्दर्शन की विरलता वताकर कहते हैं कि, इस जगत में अत्यन्त प्रीतिपूर्वक जो जीव पवित्र जैनदर्शन में स्थिति करता है अर्थात् शुद्ध सम्यग्दर्शन को निश्चलरूप से आराधता है वह जीव चाहे एक ही हो और कदाचित् पूर्व कर्मोदय से दुःखी हो तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि सम्यग्दर्शन द्वारा परम आनन्ददायक अमृतमार्ग में वह स्थित है। और जो अमृतमय मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं और मिथ्यामार्ग में स्थित हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव बहुत होवें और शुभकर्म से प्रमुदित हों तो भी उससे क्या प्रयोजन है—यह कोई प्रशंसनीय नहीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाई ! संसार में तो कौवे-कुत्ते, कीड़ी-मकोड़े इत्यादि अनंत जीव हैं, परन्तु जैनदर्शन प्राप्त कर जो जीव पवित्र सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की आराधना करते हैं वे ही जीव शोभनीक हैं। सम्यग्दर्शन विना पुण्य भी प्रशंसनीय या वांछनीय नहीं है। जगत् में मिथ्यादृष्टि वहुत हों और सम्यग्दृष्टि चाहे थोड़े हों—उससे क्या? जैसे जगत में कोयला वहुत हो और हीरा क्वचित् हो, उससे क्या कोयले की कीमत वढ़ गई? नहीं, थोड़ा हो तो भी जगमगाता हीरा शोभता है, उसी प्रकार थोड़े हों तो भी सम्यग्दृष्टि जीव जगत में शोभते हैं। हीरे हमेशा थोड़े ही होते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा अन्य कुमत के मानने वाले जीव यहाँ वहुत दिखते हैं उससे धर्मात्मा को कभी ऐसा संदेह नहीं होता है कि वे कुमत सच्चे होंगे! वह तो निःशंकरूप से और परमप्रीति से जैनधर्म को अर्थात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को आराधता है। और ऐसे धर्मी जीवों से ही यह जगत शोभित हो रहा है।

सर्वज्ञदेव के कहे हुए पवित्र दर्शन में जो प्रीतिपूर्वक स्थिति करता है अर्थात् निश्चलपने शुद्ध सम्यक्दर्शन को आराधता है वह सम्यक्दृष्टि जीव अकेला हो तो भी जगत में प्रशंसनीय है। चाहे कदाचित् पूर्व के कोई दुष्कर्म के उदय से वह दुखित हो—वाहर की प्रतिकूलता से भरा हुआ हो, निर्धन हो, काला-कुवड़ा हो, तो भी अन्तरंग की अनन्त चैतन्यऋद्धि का स्वामी वह धर्मात्मा परम आनन्दरूप अमृतमार्ग में स्थित है। करोडों, अरवों में वह अकेला हो तो भी शोभता है, प्रशंसा पाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि—जो जीव सम्यग्दर्शनसम्पन्न है वह चांडाल के देह में उत्पन्न हुआ हो तो भी गणधरदेव उसे 'देव' कहते हैं। जैसे भस्म से ढँके हुए अंगारे में अन्दर प्रकाश—तेज है उसी प्रकार चांडाल की देह से ढँका हुआ वह आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के दिव्य गुण से प्रकाशित हो रहा है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजं।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ २८ ॥

सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हो तो भी मोक्षमार्ग में स्थित है। उसे भले ही वाहर की प्रतिकूलता कदाचित् हो, परन्तु अन्दर में तो उसे चैतन्य के आनंद की लहर है; इन्द्र के वैभव में भी जो आनंद नहीं उस आनंद को वह अनुभव करता है। पूर्व कर्म का उदय उसे नहीं डिगा सकता। वह सम्यक्त्व में निश्चल है। कोई जीव तिर्यंच हो और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुका हो, रहने का मकान न हो तो भी वह आत्मगुणों से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

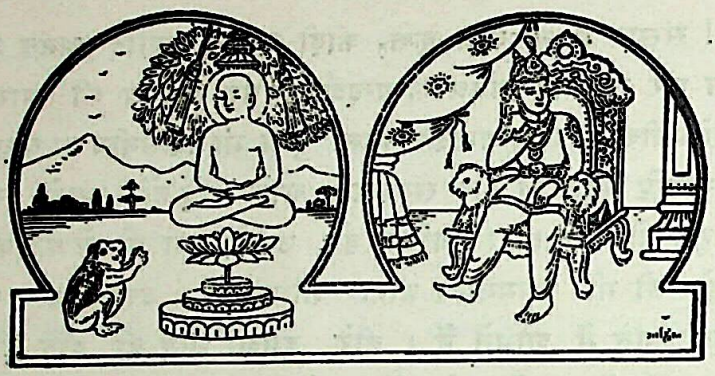

शोभता है, और मिथ्यादृष्टि जीव सिंहासन पर बैठा हो तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता। बाहर के संयोग से आत्मा की कुछ शोभा नहीं, आत्मा की शोभा तो अंदर के सम्यग्दर्शनादि गुणों से है। अरे छोटा सा मेढ़क हो, समवसरण में बैठा हो, वह भगवान की वाणी सुनकर अंदर में उतरकर सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्य के अपूर्व आनन्द को अनुभव करे, वहां अन्य किस साधन की जरूरत है? और बाहर की प्रतिकूलता कैसे बाधक हो सकती है? इसलिये कहा है कि चाहे पापकर्म का उदय हो परन्तु हे जीव! तू सम्यक्त्व की आराधना में निश्चल रह। पापकर्म का उदय हो, उससे कोई सम्यक्त्व की कीमत नहीं चली जाती, उससे तो पापकर्म निर्जरता जाता है; चारों ओर से पापकर्म के उदय से घिरा हुआ हो, अकेला हो तो भी जो जीव प्रीतिपूर्वक सम्यक्त्व को धारण करता है वह अत्यन्त आदरणीय है; चाहे जगत् में अन्य उसे न माने, चाहे औंधी दृष्टि वाला उसे साथ न देवे, तो भी अकेला वह मोक्ष के मार्ग में आनन्दपूर्वक चला जाता है। शुद्ध आत्मा में मोक्ष का अमृतमार्ग उसने देख लिया है, उस मार्ग पर निःशंक चला जाता है। क्या इसका पूर्वकर्म का उदय है? इसकी वर्तमान परिणति उदय की तरफ कुछ भी नहीं झुकती, इसकी परिणति तो चैतन्यस्वभाव की तरफ झुककर आनंदमयी बन गई है, उस परिणति से वह अकेला शोभता है। जैसे जंगल में वन का राजा सिंह अकेला भी शोभता है वैसे ही संसार में चैतन्य का राजा सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। सम्यक्त्व के साथ पुण्य हो तो ही वह जीव शोभा पावे—पुण्य की ऐसी अपेक्षा सम्यग्दर्शन में नहीं है। सम्यग्दृष्टि पाप के उदय से भी जुदा है और पुण्य के उदय से भी जुदा है; दोनों से जुदा अपने ज्ञानभाव में सम्यक्त्व से ही वह शोभता है। आनन्दमय अमृतमार्ग में आगे बढ़ता हुआ वह अकेला मोक्ष में चला जाता है। श्रेणिक राजा आज भी नरक में है परन्तु उसकी आत्मा सम्यक्त्व को प्राप्त कर अभी भी मोक्षमार्ग में गमन कर रही है, सम्यक्त्व के प्रताप से थोड़े समय में वह तीनलोक का स्वामी होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, जिसे धर्म की खबर नहीं, जो अमृतमार्ग से भ्रष्ट है और मिथ्यामार्ग में गमन करता है, वह जीव चाहे कदाचित् पुण्योदय के ठाठ से घिरा हुआ (छूटा हुआ नहीं परन्तु घिरा हुआ) हो और लाखों-करोडों जीव उसे मानने वाले हों, तो भी वह नहीं शोभता, प्रशंसा नहीं पाता; अरे, धर्म में इसकी क्या कीमत! कोई कहे कि 'पवित्र जैनदर्शन सिवा अन्य कोई विपरीत मार्ग को इतने सब जीव मानते हैं इससे उसमें कोई शोभा होगी! कोई सच्चा होगा!'—तो कहते हैं कि नहीं; इसमें अंशमात्र शोभा नहीं, सत्य नहीं। ऐसे मिथ्यामार्ग में लाखों जीव होवें तो भी वे नहीं शोभते, क्योंकि आनंद से भरे हुए अमृतमार्ग की उन्हें खबर नहीं, वे मिथ्यात्व के जहर से भरे हुए मार्ग में जा रहे हैं। जगत में किसी कुपंथ को लाखों मनुष्य मानें उससे धर्मी को शंका नहीं होती कि उस में कुछ शोभा होगी! और सत्य-पंथ के बहुत थोड़े जीव होवें, आप अकेला होवे तो भी धर्मी को संदेह नहीं होता कि सत्यमार्ग यह होगा या अन्य होगा!—वह तो निःशंकरूप से परम प्रीति पूर्वक सर्वज्ञ के कहे हुए पवित्र मार्ग को साधता है। इस प्रकार सतपंथ में अथवा मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि अकेला भी शोभता है। जगत की प्रतिकूलता का घेरा इसे सम्यक्त्व से डिगा नहीं सकता। यहाँ मोक्षमार्ग को आनंद से परिपूर्ण अमृतमार्ग कहा है, इसी कारण भ्रष्ट मिथ्यामार्ग में स्थित लाखों-करोडों जीव भी शोभते नहीं; और आनंदपूर्ण अमृतमार्ग में एक-दो-तीन सम्यग्दृष्टि होवें तो भी वे जगत में शोभते हैं। अतः इस सम्यक्त्व को निश्चलरूप से धारण करो। मुनिधर्म हो अथवा श्रावकधर्म हो, उसमें सम्यग्दर्शन सबसे पहले है। सम्यग्दर्शन बिना श्रावक अथवा मुनिधर्म होता नहीं। अतः हे जीव! तुझे धर्म करना हो और धर्मी होना हो तो पहले तू ऐसे सम्यग्दर्शन की आराधना कर; उसीसे ही धर्मीपना होगा।

सत् का माप संख्या के आधार से नहीं, और सत् को दुनिया की प्रशंसा की आवश्यकता नहीं। दुनिया में अधिक जीव मानें और अधिक जीव आदर देवें तो ही सत् को सत् कहा जावे-ऐसा नहीं, थोड़े मानने वाले हों तो भी सत् शोभता है; सत् अकेला अपने से शोभता है।

अहा, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ आत्मा जिसकी प्रतीति में आ गया है, अनुभव में आ गया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य की मन्दता से कदाचित् धनहीन, पुत्रहीन हो, काला-कुबड़ा हो, रोगी हो, स्त्री अथवा तिर्यंच हो, चांडाल इत्यादि नीच कुल में जन्मा हो, लोक में अनादर होता हो, बाहर में असाता के उदय से दुःखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो—ऐसे चाहे जितनी प्रतिकूलता के बीच खड़ा होते हुए भी, सम्यग्दर्शन के प्रताप से वह अपने चिदानन्द स्वरूप में संतुष्टता से मोक्षमार्ग को साध रहा है, इस कारण वह जगत में प्रशंसनीय है, गणधरादि संत उसके सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हैं; इसका आनंदकन्द आत्मा कोई निर्धन नहीं, इसका आत्मा रोगी नहीं, इसका आत्मा काला-कुबड़ा अथवा चांडाल नहीं, इसका आत्मा स्त्री नहीं, वह तो चिदानंदस्वरूप ही अपने को अनुभवता है, अन्दर में अनंत गुणों की निर्मलता का खजाना इसके पास है।

श्री दौलतरामजी कवि सम्यग्दृष्टि की अन्तरंगदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि—

"चिन्मूरत दृगधारी की मोहे रीति लगत है अटापटी,
बाहर नारकीकृत दुख भोगत अंतर सुखरस गटागटी।"

नारकी को बाह्य में क्या कोई अनुकूलता है? नहीं है। तो भी वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; छोटा मेंढ़क भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; वह प्रशंसनीय है। ढाई द्वीप में समवसरण आदि में बहुत से तिर्यंच सम्यग्दृष्टि हैं, इसके बाद ढाई द्वीप के बाहर तो असंख्यात तिर्यंच आत्मा के ज्ञानसहित चौथे-पाँचवें गुणस्थान में विराज रहे हैं, सिंह-बाघ और सर्प जैसे प्राणी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं वे जीव प्रशंसनीय हैं। अन्दर से चैतन्य का पाताल फोड़कर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है—उसकी महिमा की क्या बात! बाहर के संयोग से देखे उसे यह महिमा नहीं दिखाई देती है, परन्तु अन्दर आत्मा की दशा क्या है, उसे पहिचाने तो उसकी महिमा का ज्ञान होवे। सम्यग्दृष्टि ने आत्मा के आनन्द को देखा है, उसका स्वाद चखा है, भेदज्ञान हुआ है, वह वास्तव में आदरणीय है, पूज्य है। बड़े राजा-महाराजा को प्रशंसनीय नहीं कहा, स्वर्ग के देव को प्रशंसनीय नहीं कहा, परंतु सम्यग्दृष्टि को प्रशंसनीय कहा है, फिर भले वह तिर्यंच पर्याय में हो, नरक में हो, देव में हो कि मनुष्य में हो, वह सर्वत्र प्रशंसनीय है। जो सम्यग्दर्शन-धर्म का साधन कर रहे हैं वे ही धर्म में अनुमोदनीय हैं। सम्यग्दर्शन बिना बाह्य त्याग-व्रत या शास्त्रज्ञान आदि बहुत हो तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि यह हमको प्रशंसनीय नहीं लगता, क्योंकि यह कोई आत्मा के हित का कारण नहीं बनता है।

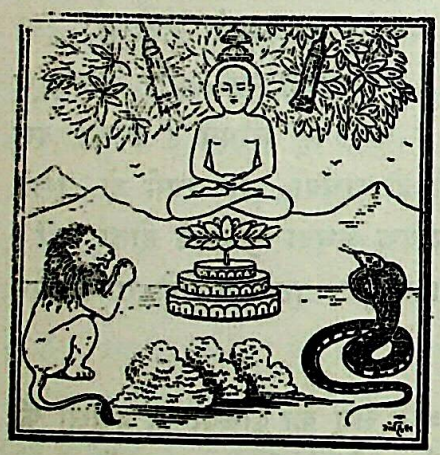

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हित का मूल कारण तो सम्यग्दर्शन है। करोड़ों-अरबों जीवों में एक हो सम्यग्दृष्टि हो तो भी वह उत्तम है-प्रशंसनीय है, और विपरीत मार्ग में बहुत हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं। ऐसा समझकर हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की आराधना कर, यह तात्पर्य है।

शरीर क्या आत्मा का है? जो अपना नहीं वह चाहे जैसा हो उसके साथ आत्मा का क्या संबंध है?—इसलिये धर्मी का महत्त्व संयोग से नहीं, धर्मी का महत्व निज चिदानन्दस्वभाव की अनुभूति से ही है।

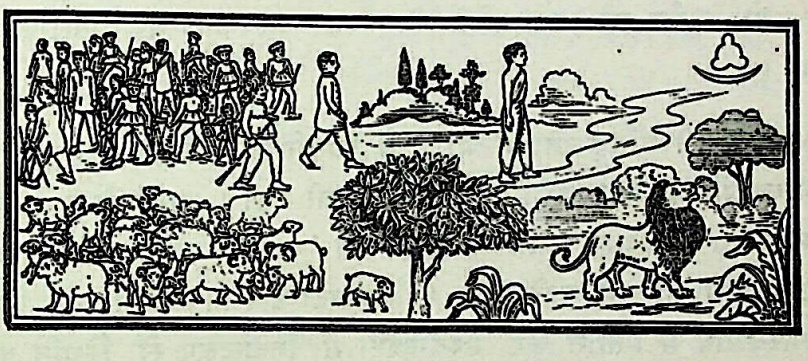

हजारों भेड़ों के समूह की अपेक्षा जंगल में अकेला सिंह भी शोभता है, उसी-प्रकार जगत् के लाखों जीवों में सम्यग्दृष्टि अकेला भी (गृहस्थपने में हो तो भी) शोभता है। मुनि सम्यग्दर्शन बिना शोभता नहीं और सम्यग्दृष्टि मुनिपना बिना भी शोभता है, वह मोक्ष का साधक है, वह जिनेश्वरदेव का पुत्र है; लाख प्रतिकूलता के बीच में भी वह जिनशासन में शोभता है। मिथ्यादृष्टि करोड़ों और सम्यक्दृष्टि एक-दो ही हों तो भी सम्यग्दृष्टि ही शोभते हैं। बहुत चींटियों का समूह एकत्रित हो जाय उससे कोई उनकी कीमत बढ़ नहीं जाती, वैसे ही मिथ्यादृष्टि जीव बहुत इकट्ठे हो जावें उससे वे प्रशंसा प्राप्त नहीं करते। सम्यग्दर्शन बिना पुण्य के बहुत संयोग प्राप्त हों तो भी आत्मा शोभता नहीं; और नरक में जहाँ हजारों-लाखों या असंख्यात वर्षों पर्यंत अनाज का कण या पानी की बूँद नहीं मिलती वहाँ भी आनंद-कंद आत्मा का भान कर सम्यग्दर्शन से आत्मा शोभित हो उठता है।* प्रतिकूलता कोई दोष नहीं और अनुकूलता कोई गुण नहीं है। गुण-दोषों का संबंध बाहर के

---

* जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करते हुए अपन नीचे का श्लोक बोलते हैं, उसमें भी यह भावना गूँथी हुई है—

जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भवत् चक्रवर्त्यपि।
स्यात् चेटोपि दरिद्रोपि जिनधर्मानुवासितः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयोग के साथ नहीं; आत्मा के स्वभाव की और सर्वज्ञदेव की श्रद्धा सच्ची है या खोटी उसके ऊपर गुण-दोष का आधार है। धर्मी जीव स्वस्वभाव के अनुभव से-श्रद्धा से अत्यन्त संतुष्टरूप रहते हैं, जगत के किसी संयोग की वांछा उसे नहीं। सम्यग्दर्शन रहित जीव हजारों शिष्यों से पूजित हो-तो भी वह प्रशंसनीय नहीं, और विरले सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को मानने वाले कोई न हों तो भी वह प्रशंसनीय है, क्योंकि वह मोक्ष का पथिक है, वह सर्वज्ञ का 'लघुनंदन' है; मुनि तो सर्वज्ञ के ज्येष्ठ पुत्र हैं और सम्यग्दृष्टि लघुनन्दन अर्थात् छोटा पुत्र है। भले वह छोटा पुत्र हो परन्तु है तो सर्वज्ञ का उत्तराधिकारी, वह अल्पकाल में तीनलोक का नाथ-सर्वज्ञ होगा।

रोगादि जैसी प्रतिकूलता में भी "मैं स्वयंसिद्ध, चिदानन्दस्वभावी परमात्मा हूँ" ऐसी निजात्मा की अंतरप्रतीति धर्मी से छूटती नहीं। आत्मा के स्वभाव की ऐसी प्रतीति सम्यग्दर्शन है, और उसमें सर्वज्ञदेव की वाणी निमित्तरूप है; उसमें जिसे संदेह है उस जीव को धर्म नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जिनवचन में और जिनवाणी में दर्शाये आत्मस्वभाव में प्रतीति कर सम्यग्दर्शन में निश्चलरूप से स्थिति करता है। ऐसे जीव जगत में तीनोंकाल में विरल ही होते हैं। वे भले ही थोडे हों तो भी वे प्रशंसनीय हैं। जगत के सामान्य जीव भले उन्हें नहीं पहिचाने परंतु सर्वज्ञ भगवंतों, सन्तों और ज्ञानियों के द्वारा वे प्रशंसा के पात्र हैं, भगवान और संतों ने उसे मोक्ष-मार्ग में स्वीकार किया है। जगत् में इससे बड़ी अन्य कोई प्रशंसा है? बाहर में चाहे जैसा प्रतिकूल प्रसंग हो तो भी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा पवित्र दर्शन से चलायमान नहीं होता

प्रश्नः—चारों ओर प्रतिकूलता से घिरे हुए ऐसे दुखिया को सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवकाश कहां से मिलेगा?

उत्तरः—भाई! सम्यग्दर्शन में क्या कोई संयोग की आवश्यकता है? प्रतिकूल संयोग कोई दुःख के कारण नहीं और अनुकूल संयोग कोई सम्यक्त्व का कारण नहीं; आत्मस्वरूप में भ्रांति ही दुःख का कारण है और आत्मस्वरूप की निर्भ्रांत प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन सुख का कारण है। यह सम्यग्दर्शन कोई संयोगों के आश्रय से नहीं, परन्तु अपने सहज स्वभाव के ही आश्रय से है। अरे! नरक में तो कितनी असह्य प्रतिकूलता है। वहां खाने को अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता, सरदी-गरमी का पार नहीं, शरीर में पीड़ा का पार नहीं, कुछ भी सुविधा नहीं, तो भी वहां पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(सातवें नरक में भी) असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर चुके हैं;—उन्होंने किस आधार से पाया? संयोग का लक्ष्य छोड़कर परिणति को अंतर में लगाकर अपने आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया। नरक में भी यह सम्यग्दर्शन होता है तो यहां क्यों न होवे? यहाँ कोई नरक जितनी तो प्रतिकूलता नहीं है? आप अपनी रुचि पलटाकर आत्मा की दृष्टि करे तो संयोग कोई विघ्न करते नहीं। अपनी रुचि न पलटावे और संयोग का दोष बतावे यह तो मिथ्याबुद्धि है।

यहाँ तो, पैसा होय अथवा पुण्य होय तो जीव प्रशंसनीय है ऐसा नहीं कहा है। परन्तु जिसके पास धर्म है वही जीव प्रशंसनीय है ऐसा कहा है। पैसा अथवा पुण्य ये क्या आत्मा के स्वभाव की चीज है? जो अपने स्वभाव की चीज न हो उससे आत्मा की शोभा कैसे होवे? हे जीव! तेरी शोभा तो तेरे निर्मल भावों से है। अन्य तेरी शोभा नहीं। अन्तरस्वभाव की प्रतीति करके उसमें तू स्थित रह, इतनी ही तेरी मुक्ति की देर है।

अनुकूल-प्रतिकूल संयोग के आधार से धर्म-अधर्म का कोई माप नहीं। धर्मी होय उसे प्रतिकूलता आवे ही नहीं—ऐसा नहीं। हाँ इतना सत्य है कि प्रतिकूलता में धर्मी जीव अपने धर्म को नहीं छोड़ता। कोई कहे कि धर्मी के पुत्र इत्यादि मरते ही नहीं, धर्मी के रोग होता ही नहीं, धर्मी के जहाज डूबते ही नहीं, तो इसकी बात सच्ची ही नहीं। इसको धर्म के स्वरूप की खबर नहीं। धर्मी को भी पूर्व पाप का उदय होय तो ऐसा भी हो सकता है। कोई समय धर्मी के पुत्रादि की आयु थोड़ी भी होवे और अज्ञानी के पुत्रादि की आयु विशेष होय।—परन्तु उससे क्या? ये तो पूर्व के बँधे हुये शुभ-अशुभ कर्म के खेल हैं। इसके साथ धर्म-अधर्म का संबंध नहीं। धर्मी की शोभा तो अपनी आत्मा से ही है। संयोग से इसकी कोई शोभा नहीं। मिथ्यादृष्टि को संयोग कोई समय अनुकूल होवे, परन्तु अरे! मिथ्यामार्ग का सेवन यह महा दुःख का कारण है—इसकी प्रशंसा क्या? कुदृष्टि की,—कुमार्ग की प्रशंसा धर्मी जीव करता नहीं।

सम्यक्प्रतीति द्वारा निज स्वभाव से जो जीव भरा हुआ है और पाप के उदय के कारण संयोग से रहित है (अर्थात् अनुकूल संयोग उसे नहीं) तो भी उसका जीवन प्रशंसनीय है—सुखी है। मैं मेरे सुखस्वभाव से भरा हुआ हूँ और संयोग से खाली हूँ ऐसी अनुभूति धर्मी को सदा ही वर्तती है, वह सत्य का सत्कार करने वाला है, आनंददायक अमृतमार्ग पर चलने वाला है। और जो जीव स्वभाव से तो खाली है—पराश्रय की श्रद्धा करता है अर्थात् ज्ञानानंद से भरे हुए निज स्वभाव को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो देखता नहीं और विपरीत दृष्टि से राग को ही धर्म मानता है, संयोग से और पुण्य से अपने को भरा हुआ मानता है, वह जीव बाहर के संयोग से सुखी जैसा दीखता हो तो भी वह वास्तव में महा दुःखी है, संसार के ही मार्ग में है। बाहर का संयोग कोई वर्तमान धर्म का फल नहीं। धर्मी जीव बाहर से चाहे खाली हो परन्तु अंतर में भरे हुए स्वभाव की श्रद्धा, तद्रूप ज्ञान और बल से वह केवल-ज्ञानी होगा। और जो जीव संयोग से भरा हुआ परन्तु स्वभाव-ज्ञान से शून्य (खाली) है—वह सम्यग्दर्शन से रहित है, वह उल्टी दृष्टि से संसार में कष्ट उठावेगा; आत्मा को स्वभाव से भरा हुआ और संयोग से खाली माना तो वह उसके फल में संयोग रहित ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करेगा।

संयोग से आत्मा की महत्ता नहीं। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो,
शुं कुटुंब के परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो?
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो हो! अेक पळ तमने हवो।

अरे, संयोग से आत्मा की महत्ता मानी यह तो स्वभाव को भूल कर इस अनमोल मनुष्यभव को हारने जैसा है, अतः हे भाई! इस मनुष्यभव को प्राप्त कर आत्मा का भान कैसे हो और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर भवभ्रमण कैसे मिटे इसका पुरुषार्थ कर।

जगत में असत् मानने वाले बहुत होवें—उससे क्या और सत्यधर्म समझने वाले थोड़े ही हों—उससे क्या?—उससे कोई असत् की कीमत बढ़ जावे और सत् की कीमत घट जावे—ऐसा नहीं। कीड़ी के दल बहुत से हों और मनुष्य थोड़े हों—उससे कोई कीड़ी की कीमत बढ़ नहीं जाती। जगत में सिद्ध सदा ही थोड़े और संसारी जीव बहुत हैं उससे सिद्ध की अपेक्षा संसारी की कीमत क्या बढ़ गई? जैसे अफीम का चाहे बड़ा ढेला होवे तो भी वह कड़वा है, और शक्कर की छोटी सी कणिका हो तो भी वह मीठी है, उसी प्रकार मिथ्यामार्ग में करोड़ों जीव हों तो भी वह मार्ग जहर जैसा है, और सम्यक्मार्ग में चाहे थोड़े जीव हों तो भी वह मार्ग अमृत जैसा है। जैसे थाली चाहे सोने की हो परन्तु यदि उसमें जहर भरा हो तो वह शोभता नहीं और खानेवाले को मारता है, उसी प्रकार कोई जीव चाहे पुण्य के ठाठ के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्य में पड़ा हो परन्तु यदि वह मिथ्यात्वरूपी जहर सहित है तो वह शोभता नहीं, वह संसार में भावमरण से मर रहा है। परन्तु, जिस प्रकार थाली चाहे लोहे की हो किन्तु जो उसमें अमृत भरा हो तो वह शोभा पाता है और खानेवाले को तृप्ति देता है, उसी प्रकार चाहे प्रतिकूलता के समूह में पड़ा होवे परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन-रूपी अमृत से भरा हुआ है वह शोभता है, वह आत्मा के परम सुख को अनुभवता है और अमृत ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करता है।

'परमात्मप्रकाश' पृष्ठ २०० में कहा है कि—

"वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन हि संयुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥"

सम्यक्त्व सहित जीव का तो नरकवास भी भला है और सम्यक्त्व रहित जीव का देवलोक में निवास भी शोभता नहीं। सम्यग्दर्शन बिना देवलोक के देव भी दुःखी ही हैं। शास्त्र में तो उन्हें पापी कहा है—"सम्यक्त्वरहित जीवाः पुण्यसहिता अपि पापजीवा भण्यन्ते।"

ऐसा जानकर श्रावक को सबसे पहले सम्यक्त्व की आराधना करनी चाहिये।

पहली गाथा में, भगवान सर्वज्ञदेव की और उनकी वाणी की पहिचान तथा श्रद्धा होने पर ही श्रावकधर्म होता है—ऐसा बताया; और दूसरी गाथा में ऐसी श्रद्धा करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े होवें तो भी वे प्रशंसनीय हैं—ऐसा बताकर उसकी आराधना का उपदेश दिया। अब तीसरी गाथा में श्री पद्मनंदी स्वामी उस सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहकर उसकी प्राप्ति के लिये परम उद्यम करने को कहते हैं।

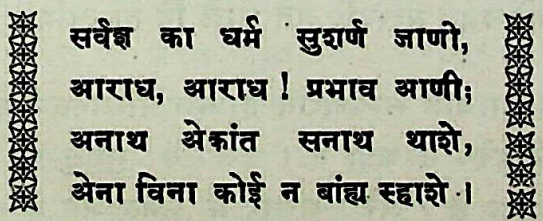

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[३]

मोक्ष का बीज सम्यक्त्व;
संसार का बीज मिथ्यात्व।

(सम्यग्दर्शन हेतु परम प्रयत्न का उपदेश)

मोक्ष का बीज सम्यग्दशन है और भव का बीज मिथ्यादर्शन है; अतः जो मोक्ष का अभिलाषी हो ऐसा मुमुक्षु जीव मोक्ष के बीजभूत सम्यग्दर्शन को अत्यंत प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करे। अनंतकाल से इस भवभ्रमण में भटकते हुए कोई विरला प्राणी स्व-प्रयत्न द्वारा उस सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के परम प्रयत्न हेतु ज्ञानी का उपदेश है।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः।
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥ ३ ॥

मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है; और संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है—ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसलिये मुमुक्षु को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु अत्यन्त प्रयत्न कर्तव्य है। अरे! संसार में अनंत भव में सम्यग्दर्शन बिना जीव कुकर्मों से भटक रहा है, दीर्घकाल व्यतीत होने पर भी प्राणी सम्यग्दर्शन को क्या पा सका है?—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महा दुर्लभ है अतः हे जीव! तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये परम उद्यम कर; और उसको पाकर अत्यन्त यत्न से उसकी रक्षा कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुन्दकुन्द स्वामीने अष्टप्राभृत में शुरू में ही कहा है कि "दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं" अर्थात् जिनवरदेव ने 'दर्शन जिसका मूल है ऐसा धर्म" शिष्यों को उपदेशा है। मूल विना जैसे वृक्ष नहीं; तैसे सम्यग्दर्शन विना धर्म नहीं। चौदह गुणस्थानों में, सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में होता है और व्रत पांचवें गुणस्थान में होते हैं, मुनिदशा छठे-सातवें गुणस्थान में होती है। सम्यग्दर्शन विना मात्र शुभराग से अपने को पाँचवां-छठा गुणस्थान अथवा धर्म माने या मोक्ष-मार्ग मान ले तो उसमें मिथ्यात्व का पोषण होता है; मोक्षमार्ग के क्रम की उसे खबर नहीं। मोक्षमार्ग में पहले सम्यग्दर्शन है, उसके विना धर्म का प्रारंभ नहीं होता, उसके विना श्रावकपना या मुनिपना सच्चा होता नहीं। अरे जीव! धर्म का स्वरूप क्या है और मोक्षमार्ग का क्रम क्या है उसे पहले जान। सम्यग्दर्शन के विना पुण्य तूने अनन्तवार किया तो भी तू संसार में ही भटका और तूने दुःख ही भोगे। अतः समझ ले कि पुण्य कोई मोक्ष का साधन नहीं है। मोक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है।

वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है? रागादि अशुद्धता विना आत्मा का शुद्ध भूतार्थ स्वभाव क्या है उसको अनुभूति से ही आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है। जिस समय से सम्यग्दृष्टि होता है उसी समय से ही मोक्षमार्गी होता है। पश्चात् इसी भूतार्थ स्वभाव के अवलंबन में आगे बढ़ते बढ़ते शुद्धि अनुसार पाँचवा-सातवाँ इत्यादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। चौथे की अपेक्षा पांचवें गुणस्थान में स्वभाव का विशेष अवलंबन है, वहां अप्रत्याख्यान संबंधी चारों कषायें भी छूट गई हैं और वीतरागी आनंद बढ़ गया है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पंचम गुणस्थानवर्ती मेढ़क को आत्मा का आनंद अधिक है, परन्तु यह दशा सम्यग्दर्शन पूर्वक ही होती है। अतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का परम प्रयत्न कर्तव्य है।

अरे चौरासी के अवतार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ है। सम्यक्त्वी के रागादि परिणाम आते हुए भी उसकी अंतर की दृष्टि में से शुद्ध स्वभाव कभी भी खिसकता नहीं। यहां श्रावक के व्रतरूप शुभभाव करने का उपदेश दिया जावेगा, तो भी धर्मी की दृष्टि में राग की मुख्यता नहीं परन्तु मुख्यता शुद्ध स्वभाव की ही है। दृष्टि में जो स्वभाव की मुख्यता छूटकर राग की मुख्यता हो जावे तो सम्यग्दर्शन भी न रहे। शुद्धस्वभाव में मोक्षदशा को विकसित कर देने की ताकत है। जिसने इस शुद्ध स्वभाव को प्रतीति में लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने मोक्ष का वृक्ष आत्मा में बो दिया, और चौरासी के अवतार का बीज उसने जला दिया। अतः हे मुमुक्षु! तू ऐसे सम्यक्त्व का परम उद्यम कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं वहाँ धर्म नहीं। जिसे भूतार्थ स्वभाव का भान नहीं और राग में एकत्वबुद्धि है उसे धर्म कैसा? वह शुभ राग से व्रतादि करे तो भी वह बालव्रत है। और उस बालव्रत के राग को धर्म माने तो "बकरी निकालते ऊँट प्रवेश कर गया" ऐसा होता है—इसलिए थोड़ा अशुभ को छोड़कर शुभ को धर्म मानने गया वहाँ मिथ्यात्व का मोटा अशुभरूपी ऊँट ही प्रवेश कर गया। अतः श्रावक को सबसे पहले सर्वज्ञ के वचनानुसार यथार्थ वस्तुस्वरूप जानकर, परम उद्यम पूर्वक सम्यक्त्व प्रगट करना चाहिए। जीव की शोभा सम्यक्त्व ही है।

संयोग चाहे जितने प्रतिकूल हों परन्तु अन्तरंग में चिदानन्द स्वभाव की प्रतीति करके श्रद्धा में पूर्ण आत्मा की अनुकूलता प्रगट की है—तो वह धन्य है।

आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध मान्यतारूप उल्टी श्रद्धा बड़ा अवगुण है; बाहर की प्रतिकूलता होना अवगुण नहीं है।

अंतर में चिदानंद स्वभाव की प्रतीति करके मोक्षमार्ग प्रगट करना महान सद्गुण है। बाहर में अनुकूलता का ठाट होना कोई गुण नहीं है।

आत्मा की धर्मसम्पदा किससे प्रगट होती है उसकी जिसे खबर नहीं वह ही महान दरिद्री है और भव-भव में भटककर दुख को भोगता है। जिस धर्मात्मा को आत्मा की स्वभाव सम्पदा का भान हुआ है उनके पास तो इतना बड़ा चैतन्य खजाना भरा है कि उसमें से केवलज्ञान और सिद्धपद प्रकटेगा। वर्तमान में पुण्य का ठाट भले न हो तो भी वह जीव महान प्रशंसनीय है। अहो! दरिद्र-समकिती भी केवली का अनुगामी है। वह सर्वज्ञ के मार्ग पर चलने वाला है। उसने आत्मा में मोक्ष के बीज बो दिये हैं। अल्पकाल में, उसमें से मोक्ष का झाड़ फैलेगा, पुण्य में से तो संयोग फलेगा और सम्यग्दर्शन में से मोक्ष का मीठा फल पकेगा।

देखिये! इस सम्यग्दर्शन की महिमा! समकिती अर्थात् परमात्मा का पुत्र। जैन कुल में जन्म हुआ, कोई इससे मान ले कि हम श्रावक हैं, परंतु भाई! श्रावक अर्थात् परमात्मा का पुत्र; "परमात्मा का पुत्र" कैसे होवे उसकी यह रीति कही जाती है—

भेदविज्ञान जग्यो जिन्हके घट, शीतल चित्त भयो जिम चंदन;
केलि करें शिवमारगमें जगमांहीं जिनेश्वर के लघुनन्दन.

जहाँ भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रगट किया वहाँ अंतर में अपूर्व शांति को अनुभवता हुआ जीव मोक्ष के मार्ग में केलि करता है, और जगत में वह जिनेश्वरदेव का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लघुनन्दन है। मुनि बड़ा पुत्र है और समकिती छोटा पुत्र है। आदिपुराण में भी जिनसेन स्वामी ने (सर्ग २ श्लोक ५४ वें) गौतम गणधर को "सर्वज्ञपुत्र" कहा है, उसी प्रकार यहाँ समकिती को जिनेश्वर का लघुनन्दन अर्थात् भगवान का छोटा पुत्र कहा है। अहा, जिसे जब सम्यग्दर्शन हुआ वहीं वह केवली भगवान का पुत्र हुआ, भगवान का उत्तराधिकारी हुआ, सर्वज्ञ पद का साधक हुआ। किसी को पुण्ययोग से बापकी विशाल सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिले परंतु वह तो क्षण में नष्ट हो जाती है, और यह समकिती तो केवलज्ञानी-सर्वज्ञ पिता की अक्षयनिधि का उत्तराधिकारी हुआ, वह निधि कभी समाप्त नहीं होती, सादिअनंत रहती है। सम्यग्दर्शन से ऐसी दशा प्रगट करे वह श्रावक कहलाता है। अतः श्रावकधर्म के उपासकको निरंतर प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए।

जिस प्रकार आम्र का बीज कैरी की गुठली होती है, कोई कड़वी निम्बोली के बीज में से मधुर आम नहीं पकते, उसी प्रकार मोक्षरूपी जो मीठा आम उसका बीज तो सम्यग्दर्शन है, पुण्यादि विकार मोक्ष का बीज नहीं है। भाई, तेरे मोक्ष का बीज तेरे स्वभाव की जात का होवे परन्तु उससे विरुद्ध न होवे। मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनंद-रूप वीतराग दशा, तो उसका बीज राग कैसे होवे? राग मिश्रित विचारों से भी पार होकर निर्विकल्प आनंद के अनुभव सहित आत्मा की प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, और वही मोक्ष का मूल है।

मोक्ष का बीज सम्यग्दर्शन, और उस सम्यग्दर्शन का बीज आत्मा का भूतार्थ स्वभाव—"भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो" भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि है। मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा परंतु यदि कोई उस सम्यग्दर्शन का स्वरूप अन्य प्रकार माने तो उसे भी मार्ग की खबर नहीं। सम्यग्दर्शन कोई अन्य के आश्रय नहीं, आत्मा के स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है।

प्रश्नः—मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप कहा है ना?

उत्तरः—यह सत्य ही है, पर उसमें बीजरूप सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान अथवा चारित्र होता नहीं। पहले सम्यग्दर्शन होता है पीछे ही ज्ञान-चारित्र पूर्ण होते मोक्ष होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अमृतचन्द्रस्वामी ने भी कहा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्ति ॥ २० ॥
तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन ।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥ २१ ॥

सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनस्वरूप मोक्षमार्ग है, उसे गृहस्थों को भी सदा यथाशक्ति सेवन करना चाहिये। उन तीन में पहले सम्यक्त्व है। वह पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अंगीकार करने योग्य है। क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र होते हैं। सम्यक्दर्शन बिना ज्ञान या चारित्र मोक्ष के साधक नहीं होते। और सम्यक्त्व सहित यथाशक्ति मोक्षमार्ग का सेवन गृहस्थ को भी होता है—ऐसा यहाँ बताया।

सम्यक्दर्शन के पश्चात् जो राग-द्वेष हैं वे अत्यन्त अल्प हैं, और उनमें धर्मी को एकत्वबुद्धि नहीं है। मिथ्यादृष्टि को राग-द्वेष में एकत्वबुद्धि है अर्थात् उसको अनंतानुबन्धी राग-द्वेष अनन्त संसार का कारण है। इस प्रकार मिथ्यात्व संसार का बीज है। और सम्यक्दर्शन होने पर उसका छेद होकर मोक्ष का बीजारोपण होता है। सम्यक्दर्शनरूपी 'बीज' उत्पन्न हुआ वह बढ़कर केवलज्ञानरूपी पूर्णिमा होकर छोड़ेगा। सम्यक्त्व कहता है कि "मुझे ग्रहण करने से ग्रहण करनेवाले की इच्छा न हो तो भी मुझे उसे जबरन मोक्ष ले जाना पड़ता है;—इसलिये मुझे ग्रहण करने के पहले यह विचार कर लो कि मोक्ष जाने की इच्छा पलट दूँ तो भी वह काम आने की नहीं है। मुझे ग्रहण करने के पश्चात् तो मुझे उसे मोक्ष पहुँचाना ही चाहिये यह मेरी प्रतिज्ञा है।"—ऐसा कहकर श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सम्यक्त्व की महिमा बताई है और उसे मोक्ष का मूल कहा है। सम्यक्त्व अंगीकार करे और मोक्ष न हो ऐसा बनता नहीं। और सम्यक्त्व बिना मोक्ष हो जाय ऐसा भी बनता नहीं। इसलिये परम यत्न से सम्यक्दर्शन प्रगट करने का उपदेश है।

अहा ! सम्यक्दर्शन होते ही चैतन्य के भंडार की तिजोरी खुल गई। अब उसमें से ज्ञान-आनन्द का माल जितना चाहिए उतना बाहर निकाल। पहले मिथ्यात्व के ताले में जो खजाना बंद था। अब सम्यक्दर्शनरूपी चाबी से खोलते ही चैतन्य का अक्षय भंडार प्रगट हुआ वह सादिअनन्त काल पर्यन्त इसमें से केवलज्ञान और पूर्णानन्द लिया ही करे...लिया ही करे...तो भी वह भंडार समाप्त हो ऐसा नहीं। उसी प्रकार वह कम हो जाय ऐसा भी नहीं। अहा! सर्वज्ञ प्रभु ने और वीतरागी संतों ने ऐसा चैतन्यभंडार खोलकर बताया। तो इसे कौन न लेवे? कौन अनुभव न करे?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्दर्शन बिना, चाहे जितना करे तो भी चैतन्य का भंडार खुलता नहीं। मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता, श्रावकपना भी होता नहीं। जो जीव सच्चे देव-गुरु-धर्म का विरोध करता है और कुदेव, कुगुरु, कुधर्म का आदर करता है उसे तो व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता वह तो मिथ्यात्व के तीव्र पाप में डूबा हुआ है। ऐसे जीव को तो पूर्व का पुण्य हो वह भी घट जाता है। ऐसे जीव को तो महा पापी कहकर पहली ही गाथा में निषेध किया है। उसमें तो धर्म की भी योग्यता नहीं। यहाँ तो सच्चा श्रावक-धर्मात्मा होने के लिये सबसे पहले सर्वज्ञदेव की पहचानपूर्वक सम्यक्दर्शन को शुद्ध करने का उपदेश है।

कोई कहे कि "हमने दिगम्बर धर्म के संप्रदाय में जन्म धारण किया है इसलिये सम्यक्दर्शन तो हमको होता ही है।"-तो यह बात सच्ची नहीं। सर्वज्ञदेव ने जैसा कहा वैसा अपने चैतन्यस्वभाव को पहचाने बिना कभी सम्यक्दर्शन नहीं होता। दिगम्बर धर्म तो सच्चा ही है। परन्तु तू स्वयं समझे तब ना! समझे बिना इस सत्य का तुझे क्या लाभ? तेरे भगवान और गुरु तो सच्चे हैं परन्तु उनका स्वरूप पहचाने तभी तू सच्चा होगा। पहचान बिना तुझे क्या लाभ? (समझे बिना उपकार क्या?)

धर्म की भूमिका सम्यग्दर्शन है, और मिथ्यात्व बड़ा पाप है। मिथ्यादृष्टि मन्द कषाय करके उसे मोक्ष का कारण माने वहाँ उसे अल्प पुण्य के साथ मिथ्यात्व का बड़ा पाप बँधता है। इसलिये मिथ्यात्व को भगवान ने भव का बीज कहा है। मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करे तो भी वह उसे मोक्ष का कारण नहीं होता, समकिती को पुण्य-पाप होते हुवे भी वे उसे संसार का बीज नहीं हैं। समकिती को सम्यक्त में से मोक्ष की फसल आवेगी; और मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व में से संसार का फल आवेगा इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवों को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का और उसकी रक्षा का परम उद्यम करना चाहिए।

जो सम्यग्दर्शन का उद्यम नहीं करते और पुण्य को मोक्ष का साधन समझकर उसकी रुचि में अटक जाते हैं उसे कहते हैं कि अरे मूढ़! तुझे भगवान की भक्ति करना नहीं आती, भगवान तेरी भक्ति को स्वीकार नहीं करते क्योंकि तेरे ज्ञान में तूने भगवान को स्वीकार नहीं किया। अपने सर्वज्ञस्वभाव को जिसने पहचाना उसने भगवान को स्वीकार किया, और भगवान ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया, वह भगवान का सच्चा भक्त हुवा। दुनिया चाहे उसे न माने या पागल कहे परन्तु भगवान ने और सन्तों ने उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है, भगवान के घर में वह प्रथम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। भगवान के ज्ञान में जिसकी महा-पात्रता भासित हुई उसके समान बड़ा अभिनन्दन (सन्मान) क्या? वह तो तीन लोक में सबसे महान् सर्वज्ञता को प्राप्त होगा। और दुनिया भले पूजती हो, परन्तु भगवान ने जिसे धर्म के लिये अयोग्य कहा तो उसके समान अपमान अन्य क्या? अहो, भगवान की वाणी में जिस जीव के लिये ऐसा आया कि यह जीव तीर्थंकर होगा, यह जीव गणधर होगा—तो उसके समान महा भाग्य अन्य क्या? सर्वज्ञ के मार्ग में सम्यग्दृष्टि का बड़ा सन्मान है, और मिथ्यादृष्टिपना यही बड़ा अपमान है।

इस घोर दुःख से भरे हुवे संसार में भटकते जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है, परन्तु वही धर्म का मूल है—ऐसा समझकर आत्मार्थी को पहले ही उसका उद्यम करना चाहिये। जो मुनिदशा हो सके तो करनी, और वह न हो सके तो श्रावकधर्म का पालन करना-ऐसा कहते हैं, परन्तु उन दोनों में सम्यग्दर्शन तो पहले होना चाहिये,—यह मूलभूत रखकर पीछे मुनिधर्म या श्रावकधर्म की बात है।

प्रश्नः—यह सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है?

उत्तरः—'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' अर्थात् संयोग और विकार रहित शुद्ध चिदानन्द स्वभाव कैसा है उसे लक्ष्य में लेकर अनुभव करने से सम्यग्दर्शन होता है; अन्य किसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता नहीं। संयोग या बन्धभाव जितना ही आत्मा को अनुभव करना और ज्ञानमय अबन्धस्वभावी आत्मा को भूल जाना वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सहित की क्रियाएँ वे सब एक इकाई बिना की, शून्यों की तरह धर्म के लिये व्यर्थ हैं। छहढाला में पंडित दौलतरामजी ने भी कहा है कि—

मुनिव्रत धार अनंतवार ग्रीवक उपजायो,
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।

गणधरादि सन्तों ने सम्यग्दर्शन को मोक्ष का बीज कहा है। यदि कोई बीज के बिना वृक्ष उगाना चाहे तो कैसे उगे?—लोग उसे मूर्ख कहते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना जो धर्मरूपी वृक्ष लगाना चाहते हैं वे भी परमार्थ से मूर्ख हैं। जिसे अन्तर में राग के साथ एकताबुद्धि अत्यन्त टूट गई है और बाह्य में वस्त्रादि का परिग्रह छूट गया है ऐसे वीतरागी सन्त महात्मा का यह कथन है। जीव को अनन्त काल में अन्य सब कुछ मिला है परन्तु शुद्ध सम्यग्दर्शन कभी प्राप्त नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुआ। महान देव और राजा-महाराजा अनन्तबार हुवा, उसी प्रकार घोर नरक-तिर्यंच के दुःख भी अनन्त वार भोगे; परन्तु मैं स्वयं ज्ञानगुण का भंडार और आनन्द-स्वरूप हूँ—ऐसी आत्मप्रतीति या अनुभव उसने पूर्व में कभी नहीं किया। सन्त करुणा पूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तुझे ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्रतीति का अवसर पुनः पुनः कहाँ मिलेगा? इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त कर उसका उद्यम कर; जिससे इस भवदुःख से तेरा छुटकारा हो।

इस सम्यग्दर्शन का साधन क्या? तो कहते हैं कि भाई, तेरे सम्यग्दर्शन का साधन तो तेरे में होता है कि तेरे से वाहर होता है? आत्मा स्वयं सत्स्वभावी-सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा है उसमें अन्तर्मुख होने से ही परमात्मा होता है; बाहर के साधन से होते नहीं। अन्तर में देखने वाला अन्तर आत्मा है और बाहर से मानने-वाला बहिरात्मा है।

जैसे आम की गुठली में से आम और बबूल में से बबूल फलता है, उसी प्रकार आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन में से तो मोक्ष के आम फलते हैं, और मिथ्यात्वरूप बबूल में से बबूल जैसी संसार की चारगति फूटती है। शुद्धस्वभाव में से संसरण करके (बाहर निकल के) विकारभाव में परिणमित होना संसार है। शुद्धस्वभाव के आश्रय से विकार का अभाव और पूर्णानंद की प्राप्ति मोक्ष है। इसप्रकार आत्मा का संसार और मोक्ष सभी स्वयं में ही समाविष्ट है, उसका कारण भी स्वयं में ही है। बाहर की अन्य वस्तु कोई आत्मा के संसार-मोक्ष का कारण नहीं।

जो आत्मा का पूर्ण अस्तित्व माने, संसार और मोक्ष को माने, चार गति माने, चारों गतियों में दुःख लगे और उससे छूटना चाहे—ऐसे आस्तिक जिज्ञासु जीव के लिये यह बात है। जगत में भिन्न भिन्न अनन्त आत्माएँ अनादि-अनन्त हैं। आत्मा अभी तक कहाँ रहा? कि आत्मा के भान बिना संसार की भिन्न भिन्न गतियों में भिन्न शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अब उनसे कैसा छूटा जाय और मोक्ष कैसे प्राप्त हो उसकी यह बात है। अरे जीव! अज्ञान से इस संसार में तूने जो दुःख भोगे उनकी क्या बात? उसमें सत्समागम से सत्य समझने का यह उत्तम अवसर आया है, ऐसे समय जो आत्मा की दरकार करके सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त करे तो समुद्र में डाल दिये रत्न की तरह इस भवसमुद्र में तेरा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुनः पुनः ऐसा उत्तम अवसर हाथ नहीं आता। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महा दुर्लभ जानकर उसका परम उद्यम कर।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् श्रावक के व्रत का प्रकाशन करना है; परन्तु उसके पूर्व यह बताया कि व्रत की भूमिका सम्यक्त है; सम्यग्दृष्टि को राग करने की बुद्धि नहीं, राग द्वारा मोक्षमार्ग सधेगा ऐसा वह नहीं मानता; उसे भूमिका अनुसार राग के त्यागरूप व्रत होते हैं। व्रत में जो शुभराग रहा उसे वह श्रद्धा में आदरणीय नहीं मानता। चैतन्यस्वरूप में थोड़ी एकाग्रता होते ही अनन्तानुबन्धी कषाय पश्चात् अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायों का अभाव होकर पंचम गुणस्थान के योग्य जो शुद्धि हुई वह सच्चा धर्म है। चौथे गुणस्थानवर्ती सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावक को आत्मा का विशेष आनन्द है;—पश्चात् भले ही वह मनुष्य हो या तिर्यंच। उत्तम पुरुषों को सम्यग्दर्शन प्रगट कर मुनि के महाव्रत या श्रावक के देशव्रत का पालन करना चाहिये। राग में किसी प्रकार एकत्वबुद्धि नहीं हो और शुद्ध-स्वभाव की दृष्टि नहीं छूटे—इस प्रकार सम्यग्दर्शन के निरन्तर पालनपूर्वक धर्म का उपदेश है।

अरे जीव! इस तीव्र संक्लेश से भरे संसार में भ्रमण करते हुवे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अति दुर्लभ है। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने आत्मा में मोक्ष का वृक्ष बोया है। इसलिये सर्व उद्यम से सम्यग्दर्शन का सेवन कर।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पश्चात् क्या करना वह अब चौथे श्लोक में कहते हैं—

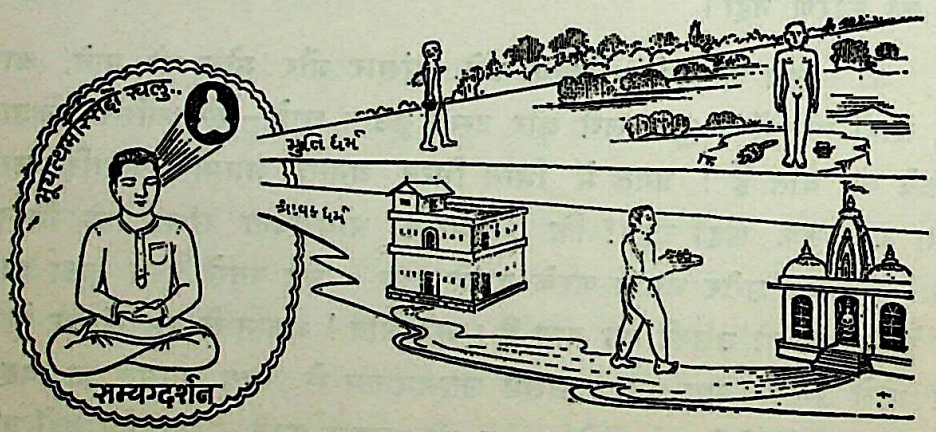

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[४]

सम्यक्त्वपूर्वक व्रत का उपदेश

हे भाई ! आत्मा को भूलकर भव में भटकते अनन्तकाल बीत गया, उसमें अतिमूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ-योग तुझे प्राप्त हुआ, तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर, प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर, और जो इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर ।

卐

सम्प्राप्तेऽत्रभवे कथं कथमपि द्राधीयसाऽनेहसा ।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ॥
नो चेत्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ ।
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्य व्रतं ॥४॥

अनादिकाल से इस संसार में भ्रमण करते जीव को मनुष्यपना प्राप्त करना कठिन है । और उसमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अति दुर्लभ है । इस भव में भ्रमण करते करते दीर्घकाल में ऐसा मनुष्यपना और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उत्तम पुरुषों को तो मोक्षदायक ऐसा तप करना योग्य है अर्थात् मुनिदशा प्रगट करना योग्य है; और जो लोक के निषेध से, मोह की तीव्रता से और निज की अशक्ति से मुनिपना नहीं किया जा सके तो गृहस्थ के योग्य देवपूजा आदि षट्कर्म तथा व्रतों का पालन करना चाहिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

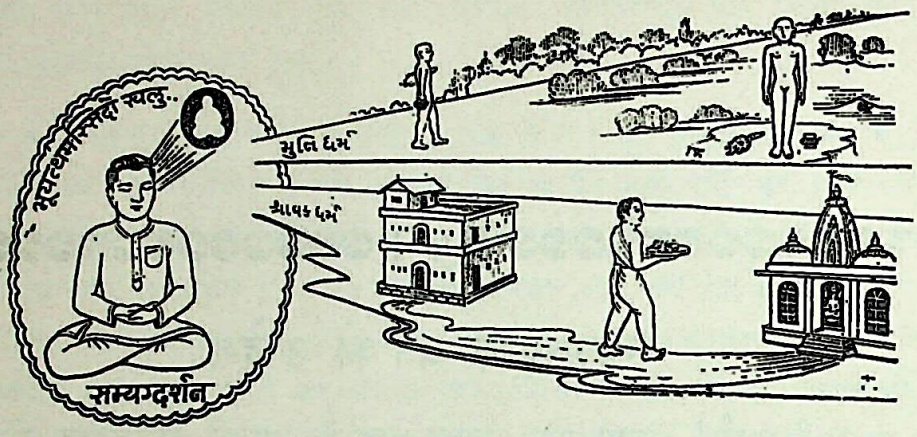

मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर आत्महित के लिये तू मुनिधर्म अंगीकार कर, और जो इतना तुझसे न हो सके तो श्रावकधर्म का तो अवश्य पालन कर। परन्तु दोनों में सम्यग्दर्शन सहित होने की बात है। मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनों के मूल में सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञ की पहिचान सहित आगे बढ़ने की बात है। जिसे यह सम्यग्दर्शन नहीं हो सके तो प्रथम उसका उद्यम करना चाहिये। —यह बात तो प्रथम तीन गाथाओं में बता आये हैं; उसके पश्चात् आगे की भूमिका की यह बात है।

सम्यग्दृष्टि की भावना तो मुनिपने की ही होती है; अहो! कब चैतन्य में लीन होकर सर्वसंग का परित्यागी होकर मुनिमार्ग में विचरण करूं? शुद्धरत्नत्रयस्वरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग उस रूप कब परिणमूँ!

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे!
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्वसंबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो।

तीर्थंकर और अरिहंत मुनि होकर चैतन्य के जिस मार्ग पर विचरे उस मार्ग पर विचरण करूं ऐसा धन्य स्वकाल कब आवेगा!—इसप्रकार आत्मा के भानपूर्वक धर्मी जीव भावना भाते हैं। ऐसी भावना होते हुये भी निजशक्ति की मंदता से और निमित्तरूप से चारित्रमोह की तीव्रता से, तथा कुटुंबीजनों आदि के आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण नहीं कर सके तो वह धर्मात्मा गृहस्थपने में रहकर श्रावक के धर्म का पालन करे, यह यहाँ बताया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री पद्मनंदीस्वामी ने श्रावक के हमेशा के छह कर्तव्य बताये हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥ ७ ॥
(पद्मनंदी-उपासकसंस्कार)

भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रंथ गुरुओं की उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये छह कार्य गृहस्थ-श्रावक को प्रतिदिन करने योग्य हैं। मुनिपना न होसके तो दृष्टि की शुद्धतापूर्वक इन छह कर्तव्यों द्वारा श्रावक-धर्म का पालन तो अवश्य करना चाहिए।

भाई, ऐसा अमूल्य मनुष्य-जीवन प्राप्त कर यों ही चला जावे,—उसमें तू सर्वज्ञदेव की पहचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्रस्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे और कषायों की मन्दता न करे तो इस जीवन में तूने क्या किया? आत्मा को भूलकर संसार में भटकते अनन्तकाल बीत गया, उसमें महा मूल्यवान यह मनुष्यभव और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग मिला, तो अब परमात्मा के समान जो तेरा स्वभाव उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर। यह शरीर और ये संयोग तो क्षणभंगुर हैं, इसमें तो कहीं सुख की छाया भी नहीं है। सुखियों में पूर्ण सुखी तो सर्वज्ञ परमात्मा हैं, दूसरे सुखी मुनिवर हैं—जो आनन्द की ऊर्मिपूर्वक सर्वज्ञपद को साध रहे हैं और तीसरे सुखी सम्यग्दृष्टि—धर्मात्मा हैं—जिन्होंने चैतन्य के परमआनन्द-स्वभाव को प्रतीति में लिया है और उसका स्वाद चखा है। ऐसे सुख का अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनिधर्म का, या श्रावकधर्म का पालन करता है, उसका यह उपदेश है।

संसार-परिभ्रमण में जीव को प्रथम तो निगोदादि एकेन्द्रिय में से निकलकर त्रसपना पाना बहुत दुर्लभ है, त्रसपना में भी पंचेन्द्रियपना और मनुष्यपना प्राप्त करना दुर्लभ है; दुर्लभ होते हुवे भी जीव अनन्तवार उसे प्राप्त कर चुका है परन्तु सम्यग्दर्शन उसने कभी प्राप्त नहीं किया। इसलिये मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य जीव! इस दुर्लभ मनुष्यपने में तू सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर; और इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का पालन कर।

देखो, यहाँ यह भी कहा है कि जो मुनिपना न हो सके तो श्रावकधर्म पालना, परन्तु मुनिपने का स्वरूप अन्यथा नहीं मानना। शुद्धोपयोग के बिना मात्र राग को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या वस्त्र के त्याग को मुनिपना मान ले तो वह श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती अर्थात् उसे तो श्रावक का धर्म भी नहीं रहता। चाहे कदाचित् मुनिपना न ले सके परन्तु अन्तरंग में उस स्वरूप की प्रतीति बराबर प्रज्वलित रखे तो सम्यग्दर्शन टिका रहेगा; इसलिये तुझसे विशेष न हो सके तो जितना हो सके उतना ही करना। श्रद्धा सच्ची होगी तो उसके बल से मोक्षमार्ग टिका रहेगा। श्रद्धा में ही गड़बड़ी करेगा तो मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जावेगा।

सम्यग्दर्शन के द्वारा जिन्होंने शुद्धात्मा को प्रतीति में लिया, उसमें उग्र लीनता से शुद्धोपयोग प्रगट हो और प्रचुर आनन्द का संवेदन अन्तर में हो रहा हो; बाह्य में वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो—ऐसी मुनिदशा है। अहो, इसमें तो बहुत वीतरागता है, यह तो परमेष्ठी पद है। कुन्दकुन्द स्वामी स्वयं ऐसी मुनिदशा में थे, उन्होंने प्रवचनसार के मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को वन्दन किया है, उन्होंने उसमें कहा है कि "जिन्होंने परम शुद्ध उपयोग भूमिका को प्राप्त किया है ऐसे साधुओं को प्रणाम करता हूँ" शुद्धोपयोग का नाम चारित्रदशा है, मोह और क्षोभ बिना जो आत्मपरिणाम वह चारित्र धर्म है, वही मुनिपना है। मुनिमार्ग क्या है उसकी जगत् को खबर नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे जिस पद को नमस्कार करें—वह मुनिपद कैसा? यहाँ "णमो लोए सव्व साहूणम्" ऐसा कहकर पंचपरमेष्ठी पद में इन्हें नमस्कार किया जाता है—इस साधुपद की महिमा की क्या बात!! यह तो मोक्ष का साक्षात् कारण है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! मोक्ष का साक्षात् कारण-शुद्धचारित्र को तू अंगीकार कर, सम्यग्दर्शन पश्चात् ऐसी चारित्रदशा प्रगट कर। चारित्रदशा बिना मोक्ष नहीं। क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान सहित ऐसे तीर्थंकर भी जब शुद्धोपयोग रूप चारित्रदशा प्रगट करते हैं तभी मुनिपना और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ऐसी चारित्रदशा प्रगट करना वह उत्तम मार्ग है। परन्तु लोक-निषेध से और स्वयं के परिणाम में उस प्रकार की शिथिलता से जो चारित्रदशा न ली जा सके तो श्रावक के योग्य व्रतादि करे। दिगम्बर मुनिदशा पालने में तो बहुत वीतरागता है; परिणामों की शक्ति न देखे और ज्यों त्यों मुनिपना ले ले और पीछे पालन न कर सके तो उल्टे मुनिमार्ग की निन्दा होती है। इसलिये अपने शुद्धपरिणाम की शक्ति देखकर मुनिपना लेना; शक्ति की मन्दता हो तो मुनिपने की भावनापूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करना। परन्तु उसके मूल में सम्यग्दर्शन तो पहले होता ही है, उस में कमजोरी नहीं चलती। सम्यक्त में थोड़ा या अधिक ऐसा भेद पड़ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतार्थ के आश्रित श्रावक को दो कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है और मुनि को तीन कषायों के अभाव जितनी शुद्धि है; जितनी शुद्धता उतना निश्चयधर्म है, स्वरूपाचरणरूप स्वसमय है और उतना मोक्षमार्ग है, और उस भूमिका में देव-पूजा आदि के या पंचमहाव्रतादि का जो शुभराग है वह व्यवहारधर्म है, वह मोक्ष का कारण नहीं परन्तु पुण्यास्रव का कारण है।—इसप्रकार शुद्धता और राग के मध्य का भेद पहचानना चाहिये। सम्यक्त्वरूप भावशुद्धि के बिना मात्र शुभ या अशुभभाव तो अनादि से सब जीवों में हुआ ही करते हैं; उस अकेले शुभ को वास्तविक व्यवहार नहीं कहते। निश्चय बिना व्यवहार कैसा? निश्चयपूर्वक जो शुभरागरूप व्यवहार है वह भी कोई वास्तविक धर्म नहीं; तो फिर निश्चय बिना अकेले शुभराग की क्या बात?—वह तो व्यवहारधर्म भी वास्तव में नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन होते शुद्धता प्रगट होती है और धर्म प्रगट होता है। धर्मी का राग में एकत्वबुद्धि न होते हुए भी, देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय आदि सम्बन्धी शुभराग उसे होता है; वह उस राग का कर्त्ता है ऐसा भी व्यवहार में कहा जाता है, और उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है; निश्चयधर्म तो अन्तरंग में भूतार्थ-स्वभाव के आश्रय से शुद्धि प्रगट हुई वही है। अरे, वीतरागमार्ग की अगम्य लीला राग के द्वारा ज्ञान में नहीं आती, क्या राग में स्थित रहकर तुझे वीतरागमार्ग की साधना करना है? राग द्वारा वीतरागमार्ग का साधन कभी नहीं हो सकता। राग द्वारा धर्म माने ऐसे जीव की तो यहाँ चर्चा नहीं। यहाँ तो जिसने भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शन प्रगट किया है उसे आगे बढ़ते मुनिधर्म या श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार होता है उसकी चर्चा है।

सम्यग्दर्शन हुवा उसी समय स्वसंवेदन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद तो आया है, तत्पश्चात् मुनिपने में तो उस अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। अहा! मुनियों को तो शुद्धात्मा के स्वसंवेदन में आनन्द की प्रचुरता है। समयसार की पाँचवीं गाथा में अपने निज वैभव का वर्णन करते श्री आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि "अनवरत झरते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा वाला जो तीव्र संवेदन उस रूप स्वसंवेदन से हमारा निज वैभव प्रगट हुवा है। स्वयं को निःशंक अनुभव में आता है कि ऐसा आत्मवैभव प्रगट हुवा है। देखो, यह मुनिदशा! मुनिपना यह तो संवरतत्त्व की उत्कृष्टता है। जिसे ऐसी मुनिदशा की पहचान नहीं उसे संवरतत्त्व की पहचान नहीं; शरीर में दिगम्बरपना हुवा या पंचमहाव्रत का शुभराग हुवा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसे ही मुनिपना मान लेना वह कोई सच्चा नहीं; और वस्त्रसहित दशा में मुनिपना माने उसे तो गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा नहीं; मुनिदशा के योग्य परम संवर की भूमिका में तीव्र राग के किस प्रकार के निमित्त छूट जाते हैं उसकी भी उसे खबर नहीं; अर्थात् उस भूमिका की शुद्धता को भी उसने नहीं जानी। वस्त्ररहित हुवा हो; पंचमहाव्रत दोषरहित पालता हो, परन्तु जो अन्तरंग में तीन कषाय के अभावरूप शुद्धोपयोग नहीं तो उसे भी मुनिपना नहीं। मुनिमार्ग तो अलौकिक है। महाविदेह क्षेत्र में वर्तमान में सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकर तरीके विराज रहे हैं वे ऐसा ही मार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे अनन्त तीर्थंकर हुवे, लाखों सर्वज्ञ भगवान वर्तमान में उस क्षेत्र में विचर रहे हैं और भविष्य में अनन्त होंगे, उन्होंने वाणी में मुनिपने का एक ही मार्ग बताया है। यहाँ कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मुनिपना अंगीकार करने योग्य है; जो उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्म को पालना।

श्रावक क्या करे?

श्रावक प्रथम तो हमेशा देवपूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव, उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज रोज दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञ की पहचान की बात कही थी। स्वयं ने सर्वज्ञ को पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है वहाँ निमित्तरूप में सर्वज्ञता को प्राप्त अरहंत भगवान के पूजन-बहुमान का उत्साह धर्मी को आता है। जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा—अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्यों का उल्लास श्रावक को आता है,—ऐसी इसकी भूमिका है, इसलिये उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है! जो उस का निषेध करे तो मिथ्यात्व है। और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना होता नहीं—ऐसा जानो। सच्चे श्रावक को तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्मा का श्रद्धानरूप सम्यक्त्व वर्तता है, और उसके आधार से जितनी शुद्धता प्रगट हुई उसे ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्यों में प्रवर्तता है। समन्तभद्रस्वामी, मानतुंगस्वामी आदि महान मुनियों ने भी सर्वज्ञदेव की नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है; एकभवावतारी इन्द्र भी रोम रोम उल्लसित हो जाये ऐसी अद्भुत भक्ति करता है। हे सर्वज्ञ परमात्मा! इस पंचमकाल में हमें आपके जैसी परमात्मदशा का तो आत्मा में विरह है, और इस भरत क्षेत्र में आपके साक्षात् दर्शन का भी विरह है! नाथ, आपके दर्शन बिना कैसे रह सकूँ!"—इस प्रकार भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे।—"जिन प्रतिमा जिन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारखी" क्योंकि धर्मी को सर्वज्ञ का स्वरूप अपने ज्ञान में भास गया है, इसलिये जिनबिम्ब को देखते ही उसे उसका स्मरण हो जाता है। नियमसार टीका में श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते हैं कि जिसे भवभयरहित ऐसे भगवान के प्रति भक्ति नहीं वह जीव भवसमुद्र के बीच मगर के मुँह में पड़ा हुआ है। जिस प्रकार संसार के रागी प्राणी को युवा स्त्री का विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते प्रसन्न होता है, उसी प्रकार धर्म के प्रेमी जीव को सर्वज्ञ परमात्मा का विरह खटकता है, और उनकी प्रतिमा का दर्शन करते या संतों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्र का श्रवण करते) उसे परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है। "अहो मेरे नाथ! तन से-मन से-धन से-सर्वस्व रूप से आपके लिये क्या क्या करूँ!" ये पद्मनन्दी स्वामी ही श्रावक के छह कर्तव्य बताते हैं, "उपासक संस्कार" में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है मुनि इससे ज्यादा क्या कहे? इसलिये भव्य जीवों को प्रातः उठकर सर्वप्रथम देव-गुरु के दर्शन तथा भक्ति से वन्दन और शास्त्र-श्रवण कर्तव्य है,—अन्य कार्य पीछे करना चाहिये। (गाथा १५-१६-१७।)

प्रभो! आपको पहचाने बिना मेरा अनन्तकाल निष्फल गया, परन्तु अब मैंने आपको पहचान लिया है, मैंने आपके प्रसाद से आपके जैसा मेरा आत्मा पहचान लिया है, आपकी कृपा से मुझे मोक्षमार्ग मिला और अब मेरा जन्म-मरण का अन्त आ गया।—ऐसा धर्मी जीव को देव-गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आता है। श्रावक को सम्यग्दर्शन के साथ ऐसे भाव होते हैं। इसमें जितना राग है उतना पुण्य है, राग बिना जितनी शुद्धि है उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजा की तरह हमेशा गुरु की उपासना तथा हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय करे। समस्त तत्त्वों का निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे ऐसा ज्ञाननेत्र गुरुओं के प्रसाद से ही प्राप्त होता है। जो जीव निर्ग्रन्थ गुरुओं को मानता नहीं, उनकी पहचान और उपासना करता नहीं, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अन्धकार है। इसीप्रकार वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत्शास्त्रों का जो अभ्यास नहीं करता उसको नेत्र होते हुवे भी विद्वान लोग अंधा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्र-स्वाध्याय न करे—उसके नेत्र किस काम के? श्रीगुरु के पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं-ऐसा कहा है। (उपासक-संस्कार गाथा १८ से २१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार देवपूजा, गुरुसेवा, और शास्त्रस्वाध्याय ये श्रावक के हमेशा के कर्त्तव्य हैं। जिस घर में देव-गुरु-शास्त्र की उपासना होती नहीं वह तो घर नहीं परन्तु जेलखाना है। जिस प्रकार भक्तिवान पुत्र को अपनी माता के प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है। अहो, मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं! तेरे लिये क्या क्या करूँ!! उसी प्रकार धर्मात्मा श्रावक को तथा जिज्ञासु जीव को भगवान के प्रति, गुरु के प्रति और जिनवाणी माता के प्रति हृदय से प्रशस्त भक्ति का उद्रेक आता है; अहो मेरे स्वामी! आपके लिये मैं क्या क्या करूँ? किस प्रकार आपकी सेवा करूँ! ऐसा भाव भक्त को आये बिना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है उतनी वह जानता है। केवल वह उस राग में धर्म मानकर रुक नहीं जाता। धर्म तो अन्तर के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से है—उसने स्वभाव को प्रतीति में लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहित मुनिधर्म न पाल सके तो श्रावकधर्म का पालन करे उसका यह वर्णन है।

श्रावकधर्म में ६ कर्त्तव्यों को मुख्य बताया है। एक जिनपूजा, दूसरी गुरुपूजा और तीसरी शास्त्रस्वाध्याय—इन तीन की चर्चा की। उसके बाद अपनी भूमिका के योग्य संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। विषयों में सुखबुद्धि तो पहले ही छूट गई है, तत्पश्चात् विषय-कषायों में से परिणति मोड़कर अन्तर में एकाग्रता का प्रतिदिन अभ्यास करे। मुनिराज को तथा साधर्मी धर्मात्मा को आहारदान, शास्त्रदान इत्यादि करने की भावना भी प्रतिदिन करे। भरत चक्रवर्ती जैसे भी श्रावक अवस्था में भोजन के समय प्रतिदिन मुनिवरों को याद करते हैं कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार-दान देने के पश्चात् मैं भोजन करूँ। मुनिराज के पधारने पर अत्यन्त भक्ति-पूर्वक आहारदान करते हैं। दान बिना गृहस्थ-अवस्था को निष्फल कहा है। जो पुरुष मुनि इत्यादि को भक्तिपूर्वक चतुर्विधदान (आहार–शास्त्र–औषध और अभय ये चार प्रकार के दान) नहीं देता उसका घर तो वास्तव में घर नहीं परन्तु उसको बाँधने के लिये बन्धपाश है। ऐसा दान सम्बन्धी बहुत उपदेश पद्मनन्दी स्वामी ने दिया है। (देखिये उपासक-संस्कार अधिकार, गाथा ३१ से ३६) श्रावक की भूमिका में चैतन्य की दृष्टि सहित इसप्रकार छह कार्यों के भाव सहज होते हैं।

"श्रावकधर्म–प्रकाश का मतलब है कि गृहस्थाश्रम में सम्यक्तपूर्वक धर्म का प्रकाश होकर वृद्धि होवे उसका यह वर्णन है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन की दुर्लभता बतलाई। ऐसे तो सम्यग्दर्शन सदाकाल दुर्लभ है, उसमें भी आजकल तो उसकी सच्ची

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात सुनने को मिलना भी दुर्लभ हो गई है। और सुनने को मिले तो भी बहुत से जीवों को उसकी खबर नहीं पड़ती। यहाँ कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन पाकर उत्तम पुरुष मुनिधर्म को अंगीकार करे, वैराग्यस्वरूप में रमणता बढ़ावे।

प्रश्नः—शास्त्र में तो कहा है कि पहले मुनिदशा का उपदेश दो। आप तो पहले सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर पीछे मुनिदशा की बात करते हो? सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना होता ही नहीं ऐसी बात करते हो!

उत्तरः—यह बराबर है; शास्त्र में पहले मुनिपना का उपदेश देने की जो बात कही है, वह तो श्रावकपना और मुनिपना इन दो की अपेक्षा से पहले मुनिपने की बात कही है, परन्तु कोई सम्यग्दर्शन के पहले मुनिपना ले लेने की बात नहीं की। सम्यग्दर्शन बिना तो मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म होता ही नहीं। इसलिये पहले सम्यग्दर्शन की मुख्य बात करके मुनिधर्म और श्रावकधर्म की बात की है। (शास्त्र में आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों में देशसंयम की अपेक्षा सीधा मुनिपना लेने वाले जीव बहुत होते हैं।)

भाई, ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके सम्यक्त्वसहित जो मुनिदशा हो तो अवश्य करना, वह तो उत्तम है, और जो इतना तेरी शक्ति की हीनता से नहीं हो सके, तो श्रावकधर्म के पालन द्वारा मनुष्यभव की सार्थकता करना। ऐसा मनुष्यभव बार बार मिलना दुर्लभ है। यह शरीर क्षण में नष्ट होकर उसके रजकण हवा में उड़ जायेंगे।—

रजकण तारां रखडशे जेम रखडती रेत,
पछी नरभव पामीश क्यां? चेत चेत नर चेत!

जिस प्रकार एक वृक्ष बिल्कुल हरा हो और जलकर भस्म हो जाय और उसकी राख हवा में चारों ओर उड़ जाय; पीछे फिर से वही परमाणु उसी वृक्षरूप हो जायें अर्थात् एकत्रित होकर फिर से उसी स्थान पर वैसे ही वृक्षरूप परिणमें—यह कितना दुर्लभ है? मनुष्यपना तो उसकी अपेक्षा और भी दुर्लभ है।—इसलिये तू इसे धर्मसेवन के बिना विषय-कषायों में ही नष्ट न कर।

जिनदर्शन आदि छह कार्य श्रावक के प्रतिदिन होते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन सहित श्रावक की मुख्य बात है; सम्यग्दर्शन के पूर्व जिज्ञासु भूमिका में भी गृहस्थों द्वारा जिनदर्शन-पूजा-स्वाध्याय आदि कार्य होते हैं। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को नहीं पहिचाने, उनकी उपासना नहीं करे, वह तो व्यवहार से भी श्रावक नहीं कहलाता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्र तरफ का भाव तो पराश्रितभाव है न?

उत्तरः—भेदज्ञानी को तो उस समय स्वयं के धर्मप्रेम का पोषण होता है। संसार संबंधी स्त्री-पुत्र-शरीर-व्यापार आदि तरफ के भाव में तो पाप का पोषण है; उसकी दिशा बदलकर-धर्म के निमित्तों तरफ के भाव आवें उसमें तो राग की मंदता होती है तथा वहां सच्ची पहिचान का—स्वाश्रय का अवकाश है। भाई, पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म के जिज्ञासु को पाप तरफ का लगाव छूटकर धर्म के निमित्तरूप देव-गुरु-धर्म की तरफ लगाव होता है। इसका विवेक नहीं करे और स्वच्छंद पाप में प्रवर्ते या कुदेवादि को माने इसे तो धर्मी होने की पात्रता भी नहीं।

सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उनके साधक गुरु कैसे होते हैं, उनकी वाणी रूप शास्त्र कैसे होते हैं, शास्त्रों में आत्मा का स्वभाव कैसा बतलाया है,—उनके अभ्यास का रस होना चाहिये। सत्शास्त्रों का स्वाध्याय ज्ञान की निर्मलता का कारण है। लौकिक उपन्यास और अखबार पढ़े उसमें तो पापभाव है। जिसे धर्म का प्रेम हो उसे दिन-प्रतिदिन नये नये वीतरागी श्रुत के स्वाध्याय का उत्साह होता है। यह निर्णय में तो है कि ज्ञान मेरे स्वभाव में से ही आता है, परन्तु जबतक इस स्वभाव में एकाग्र नहीं रहा जाता तबतक यह शास्त्र स्वाध्याय द्वारा बारम्बार उसका घोलन करता है। सर्वार्थसिद्धि का देव तेतीस सागरोपम तक तत्त्वचर्चा करता है। इन सब देवों को आत्मा का भान है, एक भव में मोक्ष जाने वाले हैं, अन्य कोई काम (व्यापार-धन्धा या रसोई-पानी का काम) उनका नहीं है। तेतीस सागरोपम अर्थात् असंख्यात वर्षों तक चर्चा करते करते भी जिसका रहस्य पूर्ण नहीं होता ऐसा गम्भीर श्रुत-ज्ञान है, धर्मी को उसके अभ्यास का बड़ा प्रेम होता है; ज्ञान का चस्का होता है। चौबीसों घंटे केवल विकथा में या व्यवहार-धन्धे के परिणाम में लगा रहे और ज्ञान के अभ्यास में जरा भी रस न ले—वह तो पाप में पड़ा हुआ है। धर्मी श्रावक को तो ज्ञान का कितना रस होता है!

प्रश्नः—परन्तु शास्त्र-अभ्यास में हमारी बुद्धि न चले तो?

उत्तरः—यह बहाना खोटा है। कदाचित् न्याय, व्याकरण या गणित जैसे विषय में बुद्धि न चले, परन्तु जो आत्मा को समझने का प्रेम हो तो शास्त्र में आत्मा का स्वरूप क्या कहा है? उससे धर्म किस प्रकार हो-यह सब समझ में कैसे न आवे?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न समझे तो गुरु द्वारा या साधर्मी को पूछकर समझना चाहिये; परन्तु पहले से ही "समझ में नहीं आता" ऐसा कहकर शास्त्र का अभ्यास ही छोड़ दे उसे तो ज्ञान का प्रेम नहीं।

सर्वज्ञदेव की पहचान पूर्वक सेवा-पूजा, सन्त-गुरु-धर्मात्मा की सेवा; साधर्मी का आदर—यह श्रावक को जरूर होता है। गुरुसेवा अर्थात् धर्म में जो बड़े हैं, धर्म में जो उच्च हैं और उपकारी हैं उनके प्रति विनय—बहुमान का भाव होता है। वह शास्त्र का श्रवण भी विनयपूर्वक करता है। प्रमादपूर्वक या हाथ में पंखा लेकर हवा खाते खाते शास्त्र सुने तो अविनय है। शास्त्र सुनने के प्रसंग में विनय से ध्यानपूर्वक उसका ही लक्ष रखना चाहिये। इसके पश्चात् भूमिका के योग्य राग घटाकर संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। इसके पश्चात् श्रावक के व्रत कौन से होते हैं वे आगे की गाथा में कहेंगे।

इन शुभ कार्यों में कोई राग का आदर करने का नहीं समझाया, परन्तु धर्मात्मा को शुद्धदृष्टिपूर्वक किस भूमिका में राग की कितनी मन्दता होती है, यह बतलाया है। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के अनुरागी, वन में बसने वाले वीतरागी सन्त नौसौ वर्ष पहले हुये पद्मनन्दी मुनिराज ने इस श्रावकधर्म का प्रकाश किया है।

सर्वज्ञदेव की पूजा, धर्मात्मा गुरुओं की सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय करना श्रावक का कर्तव्य है—ऐसा व्यवहार से उपदेश है। शुद्धोपयोग करना यह तो प्रथम बात है। परन्तु वह न हो सके तो शुभ की भूमिका में श्रावक को कैसे कार्य होते हैं उसे बताने के लिये यहाँ उसे कर्त्तव्य कहा है—ऐसा समझना। इसमें जितना शुभराग है वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, और सम्यग्दर्शन सहित जितनी शुद्धता है वह मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्ग में जिसने गमन किया है ऐसे श्रावक को मार्ग में किस प्रकार के भाव होते हैं आचार्यश्री ने उसे बतलाकर श्रावकधर्म को प्रकाशित किया है। ऐसा मनुष्य-अवतार और ऐसा उत्तम जैन-शासन पाकर हे जीव! उसे तू व्यर्थ न गँवा; प्रथम तो सर्वज्ञ—जिनदेव को पहचान कर सम्यग्दर्शन प्रगट कर, इसके पश्चात् मुनिदशा के महाव्रत धारण कर, जो महाव्रत न पाल सके तो श्रावक के धर्मों का पालन कर और श्रावक के देशव्रत धारण कर। श्रावक के व्रत कौन से होते हैं वे आगे की गाथा में कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[५]

श्रावक के व्रतों का वर्णन

सम्यग्दृष्टि–पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक का राग कितना घट गया है और इसका विवेक कितना है! एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थसिद्धि के देवों से भी ऊँची जिसकी पदवी, इसके विवेक की और इसके मंदराग की क्या बात! वह अन्दर शुद्धात्मा को दृष्टि में लेकर साधता है और उसके पर्याय में राग बहुत घट गया है। मुनि की अपेक्षा थोड़ी ही कम जिसकी दशा है।–ऐसी यह श्रावकदशा अलौकिक है।

卐

यह देशव्रतोद्योतन अर्थात् श्रावक के व्रतों का प्रकाशन चल रहा है। सबसे पहले सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये धर्म की पहचान करने को कहा गया है, पश्चात् सम्यग्दृष्टि अकेला ही मोक्षमार्ग में शोभा को प्राप्त होता है,—ऐसा कहकर सम्यक्त्व की प्रेरणा की है। तीसरी गाथा में सम्यग्दर्शन को मोक्षवृक्ष का बीज कहकर उसकी दुर्लभता बताई तथा यत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करके उसकी रक्षा करने को कहा गया। सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् मुनिधर्म का अथवा श्रावकधर्म का पालन करने का उपदेश दिया, उसमें श्रावक के हमेशा के छह कर्तव्यों को भी बतलाया। अब श्रावक के व्रतों का वर्णन करते हैं—

दृग्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रतं।
शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः॥
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो।
मौनादित्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥ ५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावक सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालन करे तथा पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-ये सात शीलव्रत;—इस प्रकार कुल बारह व्रत, रात्रि-भोजन परित्याग, पवित्र वस्त्र से छने जल का पीना तथा शक्ति अनुसार मौनादि व्रत का पालन करना;—ये सब आचरण भव्य जीवों को पुण्य के कारण हैं।

देखो! इसमें दो बात बताई। एक तो दृग् अर्थात् सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन होता है—यह बात बताई; और दूसरी ये शुभ-आचरण पुण्य का कारण है अर्थात् आस्रव का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। मोक्ष का कारण तो सम्यग्दर्शनपूर्वक स्वद्रव्य के आलंबन द्वारा जितनी वीतरागता हुई वह ही है।

जिसको आत्मभान हुआ है, कषायों से भिन्न आत्मभाव अनुभव में आया है, पूर्ण वीतरागता की भावना है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई; वहाँ श्रावक अवस्था में उसे किस प्रकार का आचरण होता है वह यहाँ बताया गया है।

जिस प्रकार स्वयं गतिमान को धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसी प्रकार स्वाश्रित शुद्धात्मा के बल से जिसने मोक्षमार्ग में गमन किया है, उस जीव को बीच की भूमिका में यह व्रतादि शुभ-आचरण निमित्तरूप से होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थान से शुद्धता प्रारंभ हुई है—निश्चय मोक्षमार्ग के जघन्य अंश की शुरुआत हो गई है, पश्चात् पाँचवें गुणस्थान में शुद्धता बढ़ गई है और राग बहुत कम हो गया है; उस भूमिका में शुभराग के आचरण की मर्यादा कितनी है और उसमें किस प्रकार के व्रत होते हैं यह बताया गया है। यह शुभरागरूप आचरण श्रावक को पुण्यबंध का कारण है अर्थात् धर्मी जीव अभिप्राय में इस राग को भी कर्तव्य नहीं मानते, राग के एक अंश को भी धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं मानते, अतः उसे कर्त्तव्य नहीं मानते परन्तु अशुभ से बचने के लिये शुभ को व्यवहार से कर्त्तव्य कहा जाता है; क्योंकि उस भूमिका में उस प्रकार का भाव होता है।

जहाँ शुद्धता की शुरुआत हुई है परन्तु पूर्णता नहीं हुई वहाँ बीच में साधक को महाव्रत या देशव्रत के परिणाम होते हैं। परन्तु जिसे अभी शुद्धता का अंश भी प्रगट नहीं हुवा है, जिसे पर में कर्त्तव्यबुद्धि है, जो राग को मोक्षमार्ग स्वीकारता है, उसे तो अभी मिथ्यात्व का शल्य है, ऐसे शल्य वाले जीव को व्रत होते ही नहीं क्योंकि व्रती तो निःशल्य होता है—'निःशल्यो व्रती' यह भगवान् उमास्वामी का सूत्र है। जिसे मिथ्यात्व का शल्य न हो, जिसे माया का शल्य न हो, जिसे निदान का शल्य न हो उसे ही पाँचवां गुणस्थान और व्रतीपना होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहली बात दृग अर्थात् सम्यग्दर्शन की है। सर्वज्ञदेव की प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होना यह पहली शर्त है; पीछे आगे की बात है। श्रावक को सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट-मूलगुणों का पालन नियम से होता है। वड़ का फल, पीपर, कठूमर, ऊमर तथा पाकर इन पाँच क्षीरवृक्षों को उदम्बर कहते हैं। ये त्रस-हिंसा के स्थान हैं इनका त्याग, तथा तीन "मकार" अर्थात् मद्य, मांस, मधु इन तीनों का नियम से त्याग ये अष्टमूलगुण हैं; अथवा पाँच अणुव्रतों का पालन और मद्य, मांस, मधु का निरतिचार त्याग ये श्रावक के आठ मूलगुण हैं; ये तो प्रत्येक श्रावक को नियम से ही होते हैं, (चाहे) मनुष्य हो या तिर्यंच हो, पुरुष हो या स्त्री हो। अढाईद्वीप के बाहर तिर्यंचों में असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं उन्हीं में श्रावक-पंचमगुणस्थानी भी असंख्यात हैं। सम्यग्दृष्टि को जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा प्रतीति में आ गया है और पर्याय में उसका अल्प शुद्ध परिणमन हुआ है। शुद्धस्वभाव की श्रद्धा के परिणमनपूर्वक शुद्धता का परिणमन होता है; और ऐसी शुद्धि के साथ श्रावक को आठ मूलगुण, त्रसहिंसा के अभावरूप पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग इत्यादि होते हैं। उस सम्बन्धी शुभभाव है वे पुण्य का उपार्जन करने वाले हैं,—"पुण्याय भव्यात्मनाम्"। कोई उसको मोक्ष का कारण मान ले तो वह भूल है। श्री उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र में भी शुभआस्रव के प्रकरण में व्रतों का वर्णन किया है; उन्होंने कोई संवररूप से वर्णन नहीं किया है।

यहाँ श्रावक को मद्य, मांस इत्यादि का त्याग होने का कहा, परन्तु यह ध्यान रखना कि पहली भूमिका में साधारण जिज्ञासु को भी मद्य, मांस, मधु, रात्रि-भोजन आदि तीन पाप के स्थानों का तो त्याग होता ही है, और श्रावक को तो प्रतिज्ञापूर्वक नियम से उसका त्याग होता है।

रात्रि-भोजन में बहुत त्रसहिंसा होती है, इसलिये श्रावक को उसका त्याग होता ही है। इसी प्रकार अनछने पानी में भी त्रस जीव होते हैं। वह शुद्ध और मोटे कपड़े से गालने के पश्चात् ही श्रावक पानी पीता है। अस्वच्छ कपड़े से पानी छाने तो उस कपड़े के मैल में ही जीव होते हैं, इसलिये कहते हैं कि शुद्ध वस्त्र से छना हुआ पानी पीने के काम में लेवे। रात्रि को तो पानी पिये नहीं और दिन में छानकर पिये। रात्रि को त्रस जीवों का संचार बहुत होता है; इसलिये रात्रि के खान-पान में त्रस जीवों की हिंसा होती है। जिस में त्रसहिंसा होती है ऐसे कोई कार्य के परिणाम व्रती श्रावक को नहीं हो सकते। भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक बिना अथवा दिन-रात के विवेक बिना चाहे जैसे वर्तता होवे और कहे कि हम श्रावक हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—परन्तु भाई! श्रावक को तो कितना राग घट गया है? इसका विवेक कितना होता है? एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थसिद्धि के देवों की अपेक्षा ऊँची जिसकी पदवी, इसके विवेक की और इसके मन्द राग की क्या बात? वह अन्दर शुद्धात्मा को दृष्टि में लेकर साध रहा है, और पर्याय में राग बहुत ही घट गया है। मुनि की अपेक्षा थोड़ी ही कम इसकी दशा है।—यह श्रावकदशा अलौकिक है। वहाँ त्रसहिंसा के भाव कैसे? और अन्दर त्रसहिंसा के भाव नहीं होते अतः बाहर में भी त्रसहिंसा का आचरण सहज ही नहीं होता,—ऐसी संधि है। अन्दर त्रसहिंसा के परिणाम न हों और बाहर हिंसा की चाहे जैसी प्रवृत्ति बना करे ऐसा नहीं बनता। कोई कहे कि सभी अभक्ष्य खाना सही परन्तु भाव नहीं करना,—तो वह स्वच्छन्दी है. अपने परिणाम का इसको विवेक नहीं। भाई, जहाँ अन्दर से पाप के भाव छूट गये वहाँ, "बाहर में पाप की क्रिया भले ही होवे" ऐसी उल्टी वृत्ति उठे ही कैसे? मुख में कन्दमूल भक्षण करता हो और कहे कि हमें राग नहीं,—यह तो स्वच्छन्दता है। भाई यह तो वीतराग का मार्ग है। तू स्वच्छन्दपूर्वक राग का सेवन करे और तुझे वीतरागमार्ग हाथ में आ जावे ऐसा नहीं बने। स्वच्छन्दतापूर्वक राग को सेवे और अपने को मोक्षमार्गी मान ले इस की तो दृष्टि भी चोखी नहीं; सम्यग्दर्शन ही नहीं, वहाँ श्रावकपने की अथवा मोक्षमार्ग की बात कैसी? बीड़ी-तम्बाकू का व्यसन अथवा बासी अथाणा-मुरब्बा इन सबों में त्रसहिंसा है, श्रावक को उसका सेवन नहीं होता। इस प्रकार त्रसहिंसा के जितने स्थान हों, जहाँ जहाँ त्रसहिंसा की सम्भावना हो वैसे आचरण श्रावक को होते नहीं ऐसा समझ लेना।

मद्य, मांस और मधु अर्थात् शहद, तथा पांच प्रकार के उदम्बर फल, इनका त्याग तो श्रावक को प्रथम ही होता है।—ऐसा पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है। जिन्हें इनका त्याग नहीं उन्हें व्यवहार से भी श्रावकपना नहीं होता और वे धर्मश्रवण के भी योग्य नहीं। समन्तभद्रस्वामी ने श्री रत्नकरंड-श्रावकाचार में त्रसहिंसादि के त्यागरूप पांच अणुव्रत का पालन तथा मद्य-मांस-मधु का त्याग-इस प्रकार आठ मूलगुण कहे हैं।

मुख्यतः तो दोनों में त्रसहिंसा सम्बन्धी तीव्र पापपरिणामों के त्याग की बात है। जिस गृहस्थ को सम्यग्दर्शनपूर्वक पांच पाप और तीन 'म'कार के त्याग की दृढता हुई उसने समस्त गुणरूपी महल की नींव डाली। अनादि से संसारभ्रमण का कारण जो मिथ्यात्व और तीव्र पाप उसका अभाव होते ही जीव अनेक गुण ग्रहण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का पात्र हुआ। इसलिये इन आठ त्यागों को अष्ट मूलगुण कहा है। बहुत से लोग दवा आदि में मधु सेवन करते हैं, परन्तु मांस की तरह ही मधु को भी अभक्ष्य गिना है। रात्रि-भोजन में भी त्रसहिंसा का बड़ा दोष है! श्रावक को ऐसे परिणाम नहीं होते।

भाई, अनंतकाल में तुझे ऐसा मनुष्य-अवतार मिला तो उसमें आत्मा का हित किस प्रकार हो–उसका विचार कर। एक अंगुल जितने क्षेत्र में असंख्यात औदारिक-शरीर, एक शरीर में अनंत जीव; वे कितने? अभीतक जितने सिद्ध हुए उनसे भी अनंतगुणे निगोद जीव एक-एक शरीर में हैं; उस निगोद में से निकलकर त्रसपना प्राप्त करना और उसमें यह मनुष्यपना और जैनधर्म का ऐसा अवसर मिलना तो बहुत ही दुर्लभ है। भाई! तुझे उसकी प्राप्ति हुई है तो आत्मा का जिज्ञासु होकर मुनिदशा या श्रावकदशा प्रगट कर। यह अवसर धर्म के सेवन बिना निष्फल न गँवा। सर्वज्ञप्रभु द्वारा कहे हुये आत्मा के हित का सच्चा रास्ता अनंतकाल में तूने नहीं देखा–सेवन नहीं किया; वह मार्ग यहां सर्वज्ञ परमात्मा के अनुगामी संत तुझे बता रहे हैं। सती राजमती, द्रौपदी, सीताजी, ब्राह्मी-सुंदरी, चंदना, अंजना, तथा रामचंद्रजी, भरत, सुदर्शन, वारिषेणकुमार आदि पूर्व में राजपाट में थे तब भी वे संसार से एकदम उदासीन थे, वे भी आत्मा के भान सहित धर्म का सेवन करते थे। अर्थात् गृहस्थ-अवस्था में हो सके ऐसी (श्रावकधर्म की) यह बात है। पश्चात् छठा-सातवां गुणस्थानरूप मुनिदशा तो विशेष ऊंची दशा है; वह गृहस्थ-अवस्था में रहकर नहीं हो सकती। परंतु गृहस्थ-अवस्था में रहकर जो सम्यग्दर्शन पूर्वक शक्ति अनुसार वीतरागधर्म का सेवन करते हैं वे भी अल्पकाल में मुनिदशा और केवलज्ञान प्रगट कर मोक्ष को प्राप्त होंगे।

शुद्धस्वरूप का जहाँ सम्यक्निर्णय हुआ वहाँ मोक्ष का दरवाजा खुल गया। गृहवास में रहनेवाले सम्यग्दृष्टि को भी आत्मदर्शन द्वारा मोक्ष का दरवाजा खुल गया है। जो शुद्ध स्वतत्त्व का उपादेयपना और समस्त परभावों का अनुपादेयपना—ऐसे भेदज्ञान के बल से मोक्षमार्ग को साध रहा है, ऐसे निर्मोही गृहस्थ को समंतभद्रस्वामी ने प्रशंसनीय और "मोक्षमार्गस्थ" कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[६]

श्रावक के बारह व्रत

अपने आंगन में मुनिराज को देखते ही धर्मात्मा को अत्यन्त आनन्द होता है। श्रावक के आठ प्रकार की कषाय के अभाव से सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग हो वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते। भाई! आत्मा का खजाना खोलने के लिये यह अवसर मिला, उसमें विकथा में समय नष्ट करना कैसे शोभे? सम्यक्त्वसहित आंशिक वीतरागता पूर्वक श्रावकपना शोभता है।

पाँचवीं गाथा में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे जो बारह व्रत कहे वे कौन कौन हैं? यह बताकर उनका पालन करने को कहते हैं।—

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वान्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते।
दिग्देशव्रत दण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररी कुर्याद् गृहीति व्रती ॥ ६ ॥

देशव्रती श्रावक को प्रयोजनवश (आहार आदि में) स्थावर जीवों की हिंसा होती है परन्तु समस्त त्रस जीवों की तो रक्षा करता है; सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत पालता है, शुद्ध स्वस्त्री के सेवन में संतोष अर्थात् कि परस्त्री सेवन का त्याग होता है तथा पाँचवाँ व्रत परिग्रह की मर्यादा भी श्रावक को होती है। अभी उसके मुनि-दशा नहीं अर्थात् सर्व परिग्रह का भाव छूटा नहीं, परन्तु उसकी मर्यादा आ गई है। परिग्रह में कहीं सुख नहीं है, ऐसा भान है और "कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ" ऐसी अन्तर्दृष्टि में तो सर्व परिग्रह छूटा ही हुआ है, परन्तु चारित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षा से अभी गृहस्थ को सर्वपरिग्रह नहीं छूटा। मिथ्यात्व का परिग्रह छूट गया है और दूसरे परिग्रह की मर्यादा हो गई है। इस प्रकार पाँच अणुव्रत गृही-श्रावक को होते हैं: तथा दिग्व्रत, देशव्रत, और अर्थदंड का त्यागरूप व्रत ये तीन गुणव्रत होते है; और सामायिक, प्रौषधोपवास, दान अर्थात् अतिथिसंविभाग और भोगोपभोग-परिमाण ये चार शिक्षाव्रत होते हैं।—इस प्रकार श्रावक को बारह व्रत होते हैं। ये व्रत पुण्य के कारण हैं—यह बात पाँचवीं गाथा में कह आये हैं।

चार अनंतानुबंधी और चार अप्रत्याख्यान इन आठ कषायों के अभाव से श्रावक को सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना मोक्षमार्ग है; ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट हुआ हो वहाँ त्रसहिंसा के परिणाम नहीं होते। आत्मा पर जीव को मार सके या जिला सके ऐसी बाहर की क्रिया के कर्तव्य की यह बात नहीं, परन्तु अन्दर ऐसे हिंसा के परिणाम ही उसे नहीं होते। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की मर्यादा स्वयं की वस्तु के प्रवर्तन में ही है, पर में प्रवर्तन नहीं होता।—ऐसे वस्तुस्वरूप के भानपूर्वक अंतरंग में कुछ स्थिरता हो तभी व्रत होता है; और उसे श्रावकपना कहा जाता है। ऐसे श्रावक को (द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय) त्रसहिंसा का तो सर्वथा त्याग हो, और स्थावर हिंसा की भी मर्यादा हो।—ऐसा अहिंसाव्रत होता है।

इसी प्रकार सत्य का भाव हो और असत्य का त्याग हो, चोरी का त्याग हो; परस्त्री का त्याग हो और स्वस्त्री में संतोष, और वह भी शुद्ध हो तभी, अर्थात् कि ऋतुमती-अशुद्ध हो तब उसका भी त्याग,—इस प्रकार का एकदेश ब्रह्मचर्य हो: तथा परिग्रह की कुछ मर्यादा हो; इसप्रकार श्रावक को पाँच अणुव्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत पश्चात् श्रावक को तीन गुणव्रत भी होते हैं:—

प्रथम दिग्व्रत अर्थात् दशों दिशा में निश्चित मर्यादा तक ही गमन करने की जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा करना;

दूसरा देशव्रत अर्थात् दिग्व्रत में जो मर्यादा भी है उसमें भी निश्चित क्षेत्र के बाहर नहीं जाने का नियम करना;

तीसरा अनर्थदण्डपरित्यागव्रत अर्थात् बिना प्रयोजन के पापकार्य करने का त्याग; उसके पाँच प्रकार-अपध्यान, पाप का उपदेश, प्रमादचर्या, जिससे हिंसा हो ऐसे शस्त्र आदि का दान और दुःश्रुति—जिससे राग-द्वेष की वृद्धि हो ऐसी दुष्ट कथाओं का श्रवण, वह न करे। इस प्रकार श्रावक के तीन गुणव्रत होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और चार शिक्षाव्रत होते हैं। सामायिक—अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक प्रतिदिन परिणाम को अंतर में एकाग्र करने का अभ्यास करे।

प्रौषधोपवास—अष्टमी चौदस के दिनों में श्रावक उपवास करके परिणाम को विशेष एकाग्र करने का प्रयोग करे। सभी आरम्भ छोड़कर धर्मध्यान में ही पूरा दिन व्यतीत करे।

दान—अपनी शक्तिअनुसार योग्य वस्तु का दान करे; आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान, अभयदान,—इसप्रकार चार प्रकार के दान श्रावक करे। उनका विशेष वर्णन आगे करेंगे। अतिथि के प्रति अर्थात् मुनि या धर्मात्मा श्रावक के प्रति बहुमानपूर्वक आहार दानादि करे, शास्त्र देवे, ज्ञान का प्रचार कैसे बढे—ऐसी भावना उसको होती है। इसे अतिथिसंविभाग-व्रत भी कहते हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत—अर्थात् खाने-पीने इत्यादि की जो वस्तु एकबार उपयोग में आती है उसे भोग-सामग्री कहते हैं, और वस्त्रादि जो सामग्री बारम्बार उपयोग में आवे उसे उपभोग-सामग्री कहते हैं, उसका प्रमाण करे, मर्यादा करे। उसमें सुखबुद्धि तो पहले से ही छूट गई है, क्योंकि जिसमें सुख माने उसकी मर्यादा नहीं होती।

इसप्रकार पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे बारह व्रत श्रावक को होते हैं। इन व्रतों में जो शुभविकल्प है वह तो पुण्यबन्ध का कारण है और उस समय स्वद्रव्य के आलंबनरूप जितनी शुद्धता होती है वह संवर-निर्जरा है। ज्ञायक आत्मा राग के एक अंश का भी कर्त्ता नहीं, और राग के एक अंश से भी उसे लाभ नहीं ऐसा भान धर्मी को बना रहता है। यदि ज्ञान में राग का कर्तृत्व माने अथवा राग से लाभ माने तो मिथ्यात्व है। भेदज्ञानी को शुभराग में पाप से बचा उतना लाभ कहलाता है, परन्तु निश्चयधर्म का लाभ उस शुभराग में नहीं। धर्म का लाभ तो जितना वीतराग भाव हुवा उतना ही है। सम्यक्त्व सहित अंशरूप में वीतरागभाव-पूर्वक श्रावकपना शोभता है।

भाई, आत्मा के खजाने को खोलने के लिये ऐसा अवसर मिला, उसमें विकथा में, पापस्थान में और पापाचार में समय गमाना कैसे निभे? सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे हुवे आत्मा के शुद्ध स्वभाव को लक्ष में लेकर बारम्बार उसको अनुभव में ला और उसमें एकाग्रता की वृद्धि कर। लोक में ममता वाले जीव भोजन आदि सर्व-प्रसंग में स्त्री-पुत्रादि को ममता से याद करते हैं उसी प्रकार धर्म के प्रेमी जीव भोजनादि सर्व प्रसंग में प्रेमपूर्वक धर्मात्मा को याद करते हैं कि मेरे आँगन में कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मात्मा अथवा कोई मुनिराज पधारें तो उनको भक्तिपूर्वक भोजन देकर मैं भोजन करूँ। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजन के समय रास्ते पर आकर मुनिराज के

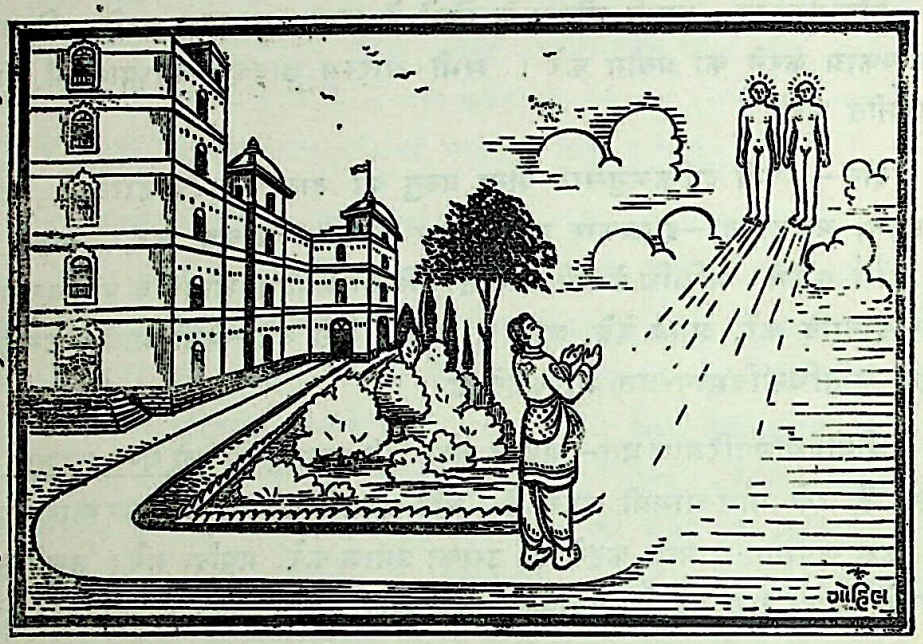

आगमन की प्रतीक्षा करते थे, और मुनिराज के पधारने पर परम भक्तिपूर्वक आहार-दान करते थे। अहा! ऐसा लगे कि आँगन में कल्पवृक्ष फलित हुवा, इससे भी अधिक आनंद मोक्षमार्गसाधक मुनिराज को अपने आँगन में देखकर धर्मात्मा को होता है। अपनी रागरहित चैतन्यस्वभाव की दृष्टि है और सर्वसंगत्याग की बुद्धि है वहाँ गृहस्थ को ऐसे शुभभाव आते हैं। उस शुभराग की मर्यादा जितनी है उतनी वह जानता है। अन्तर का मोक्षमार्ग तो राग से पार चैतन्यस्वभाव के आश्रय से परिणमता है। श्रावक के व्रत में मात्र शुभराग की बात नहीं है। जो शुभराग है उसे तो जैनशासन में पुण्य कहा है और उस समय श्रावक को जितनी शुद्धता स्वभाव के आश्रय से वर्तती है उतना धर्म है, वह परमार्थ व्रत है, और वह मोक्ष का साधन है—ऐसा समझना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[७]

गृहस्थ को सत्पात्रदान की मुख्यता

भाई! लक्ष्मी तो क्षणभंगुर है; तू दान द्वारा लक्ष्मी आदि का प्रेम हटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। जिसे धर्म का उल्लास होता है उसे धर्म प्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का उल्लास आये बिना नहीं रहता। धर्म की शोभा किस प्रकार बढ़े, धर्मात्मा किस प्रकार आगे बढ़े और साधर्मियों को कोई प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसा प्रसंग विचारकर श्रावक उसमें उत्साह से वर्तता है। ऐसे धर्म के प्रेमी श्रावक को दान के भाव होते हैं।

*

सम्यग्दर्शनपूर्वक देशव्रती श्रावक को अष्ट मूलगुण और बारह अणुव्रत होते हैं—यह बताया। अब कहते हैं कि—गृहस्थ को यद्यपि जिनपूजा आदि अनेक कार्य होते हैं तो भी उनमें सत्पात्रदान सबसे मुख्य है—

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥ ७ ॥

श्रावक को सत्पुण्योपार्जन के कारणरूप जिनदेव का आराधन-पूजन आदि अनेक कार्य हमेशा होते हैं; उसमें भी धनवान श्रावक का तो, संसार-समुद्र को पार करने के लिये नौका समान ऐसा सत्पात्रदान उत्तम गुण है; अर्थात् श्रावक के सब कार्यों में दान मुख्य कार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मी जीव प्रतिदिन धर्म की प्रभावना, ज्ञान का प्रचार, भगवान् की पूजा-भक्ति आदि कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया करता है, उनमें धर्मात्मा को मुनि आदि के प्रति भक्तिपूर्वक दान देना मुख्य है। आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान, और अभयदान ये चार प्रकार के दान आगे के चार श्लोकों में बतावेंगे।

धनवान् अर्थात् जिसने अभी परिग्रह नहीं छोड़ा ऐसे श्रावक का मुख्य कार्य सत्पात्रदान है। सम्यग्दर्शनपूर्वक जहाँ ऐसे दान-पूजादि का शुभराग आता है वहाँ अन्तरदृष्टि में उस राग का भी निषेध वर्तता है, अर्थात् उस धर्मी को उस राग से "सत्पुण्य" बंधता है। अज्ञानी को "सत्पुण्य" होता नहीं, क्योंकि उसे तो पुण्य की रुचि है, राग के आदर की बुद्धि से पुण्य के साथ मिथ्यात्वरूपी बड़ा पापकर्म उसे बंधता है।

यहाँ दान की मुख्यता कही है उससे अन्य का निषेध न समझना। जिनपूजा आदि को भी सत्पुण्य का हेतु कहा है, वह भी श्रावक को प्रतिदिन होता है। कोई उसका निषेध करे तो उसे श्रावकपने की या धर्म की खबर नहीं।

जिनपूजा को कोई परमार्थ से धर्म ही मान ले तो गल्ती है, और जिनपूजा का कोई निषेध करे तो वह भी गल्ती है। जिन-प्रतिमा जैनधर्म में अनादि की वस्तु है। परन्तु वह जिन प्रतिमा वीतराग हो—"जिन प्रतिमा जिनसारखी" किसी ने इस जिन-प्रतिमा के ऊपर चन्दन-पुष्प-आभरण-मुकुट-वस्त्र आदि चढ़ाकर उसका स्वरूप विकृत कर दिया, और किसी ने जिन-प्रतिमा के दर्शन-पूजन में पाप बताकर उसका निषेध किया हो,—यह दोनों की भूल है। इस सम्बन्धी एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—दो मित्र थे; एक मित्र के पिता ने दूसरे के पिता को १०० (एकसौ) रुपये उधार दिये, और बही में लिख लिये। दूसरे का पिता मर गया। कितने ही वर्षों के बाद पुराने बहीखाते देखते पहले मित्र को खबर लगी की मेरे पिता ने मित्र के पिता को एक सौ रुपया दिये थे; परन्तु उसे तो बहुत वर्ष बीत गये। ऐसा समझकर उसने १०० ऊपर आगे दो बिन्दु लगाकर १००,०० (दस हजार) बना दिये; और पश्चात् मित्र को कहा कि तुम्हारे पिता ने मेरे पिता से दस हजार रुपये लिये थे, इसलिये लौटाओ। इस मित्र ने कहा कि मैं मेरे पुराने बही-चोपड़े देखकर फिर कहूँगा। घर जाकर पिता की बहियाँ देखीं तो उसमें दस हजार के बदले सौ रुपये निकले। इस पर उसने विचार किया कि जो सौ रुपये स्वीकार करता हूँ तो मुझे दस हजार रुपये देना पड़ेंगे। इसलिये उसकी नीयत खराब हो गई और उसने तो मूल से ही उड़ा दी की मेरी बहियों में कुछ नहीं निकलता। इसमें सौ रुपये को रकम तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सच्ची थी, परन्तु एक ने लोभवश उसमें दो बिन्दु बढ़ा दिये और दूसरे ने वह रकम सम्पूर्ण उड़ा दी। उसी प्रकार अनादि जिनमार्ग में जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, उनकी पूजा आदि यथार्थ है; परन्तु एक ने दो बिन्दुओं की तरह उसके ऊपर वस्त्र-आभरण आदि परिग्रह बढ़ाकर विकृति कर डाली और दूसरे ने तो शास्त्र में मूर्ति ही नहीं ऐसा गलत अर्थ करके उसका निषेध किया। और इन दो के अलावा, वीतरागी जिनप्रतिमा को स्वीकार करके भी उस तरफ के शुभराग को जो मोक्ष का साधनरूप धर्म बतावे उसने भी धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझा है। भाई, जिनप्रतिमा है, उसके दर्शन-पूजन का भाव होता है, परन्तु उसकी सीमा कितनी? कि शुभराग जितनी।—इससे आगे बढ़कर इसे जो तू परमार्थधर्म मान ले तो वह तेरी भूल है।

एक शुभविकल्प उठे वह भी वास्तव में ज्ञान का कार्य नहीं; मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूँ, जैसे सर्वज्ञ में विकल्प नहीं वैसे ही मेरे ज्ञान में भी रागरूपी विकल्प नहीं। "ये विकल्प उठते हैं न?"—तो कहते हैं कि वह कर्म का कार्य है, मेरा नहीं। मैं तो ज्ञान हूँ, ज्ञान का कार्य राग कैसे हो?—इस प्रकार ज्ञानी को राग से पृथक् त्रैकालिक स्वभाव के भानपूर्वक उसे टालने का उद्यम होता है। जिसने राग से पृथक् अपने स्वरूप को नहीं जाना और राग को अपना स्वरूप माना है वह राग को कहाँ से टाल सकेगा? ऐसे भेदज्ञान के बिना सामायिक भी सच्ची नहीं होती। सामायिक तो दो घड़ी अंतर में निर्विकल्प आनन्द के अनुभव का एक अभ्यास है; और दिन-रात चौबीस घन्टे आनन्द के अनुभव की जाँच उसका नाम प्रौषध है; और शरीर छूटने के प्रसंग में अंतर में एकाग्रता का विशेष अभ्यास का नाम संल्लेखना अथवा संथारा है। परन्तु जिसे राग से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव ही नहीं उसे कैसी सामायिक? और कैसा प्रौषध? और कैसा संथारा? भाई, यह वीतराग का मार्ग जगत से न्यारा है।

यहाँ अभी सम्यक्दर्शन सहित जिसने व्रत अंगीकार किये हैं ऐसे धर्मी श्रावक को जिनपूजा आदि के उपरान्त दान के भाव होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। तीव्र लोभरूपी कुवे की खोल में फँसे हुए जीवों को उसमें से बाहर निकलने के लिये श्री पद्मनन्दी स्वामी ने करुणा करके दान का विशेष उपदेश दिया है। दान अधिकार की छयालीसवीं गाथा में कौवे का दृष्टान्त देकर कहा है कि—जो लोभी पुरुष दान नहीं देता और लक्ष्मी के मोहरूपी बंधन से बँधा हुआ है, उसका जीवन व्यर्थ है; उसकी अपेक्षा तो वह कौवा श्रेष्ठ है जो अपने को मिली हुई जली खुरचन को काँव काँव करके दूसरे कौवों को बुलाकर खाता है। जिस समय में तेरे गुण जले अर्थात् उनमें विकृत हुई उस समय में राग से पुण्य बँधा, उस पुण्य से कुछ लक्ष्मी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिली, और अब तू सत्पात्र के दान में उसे नहीं खर्चे और मात्र पापहेतु में ही खर्चे तो तुझे सिर्फ पाप का ही बंधन होता है: तेरी यह लक्ष्मी तुझे बंधन का ही कारण है। सत्पात्रदानरहित जीवन निष्फल है; क्योंकि जिसमें धर्म का और धर्मात्मा का प्रेम नहीं—उसमें आत्मा को क्या लाभ !

भाई, यह दान का उपदेश संत तेरे हित के लिये देते है। संत तो वीतराग हैं और कोई तेरे धन की वाञ्छा नहीं, ये तो परिग्रहरहित दिगम्बर संत वन-जंगल में बसने वाले और चैतन्य के आनन्द में झूलने वाले हैं। यह जीवन, यौवन और धन सब स्वप्नसमान क्षणभंगुर हैं,—तो भी जो जीव सत्पात्रदान आदि में उसका उपयोग नहीं करते और लोभरूपी कुएँ की खोल में भरे हुए हैं उन पर करुणा करके उद्धार के लिये संतों ने यह उपदेश दिया है। अंतर में सम्यक्दृष्टिपूर्वक अन्य धर्मात्माओं के प्रति दान-बहुमान का भाव आवे उसमें स्वयं की धर्मभावना पुष्ट होती है, इसलिये ऐसा कहा कि दान श्रावक को भवसमुद्र से तिरने के लिये जहाज के समान है। जिसे निज के धर्म का प्रेम है उसे अन्य धर्मात्मा के प्रति प्रमोद-प्रेम और बहुमान आता है। धर्म, धर्मीजीव के आधार से है इसलिये जिसे धर्मी जीवों के प्रति प्रेम नहीं उसे धर्म का प्रेम नहीं। जो मनुष्य साधर्मी-सज्जनों के प्रति शक्तिअनुसार वात्सल्य नहीं करता उसकी आत्मा प्रबल पाप से ढँकी हुई है और धर्म से विमुख है अर्थात् वह धर्म का अभिलाषी नहीं। भव्य जीवों को साधर्मी सज्जनों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिये— ऐसा उपासक-संस्कार की गाथा ३६ में पद्मनन्दी स्वामी ने कहा है। भाई, लक्ष्मी आदि का प्रेम घटाकर धर्म का प्रेम बढ़ा। स्वयं को धर्म का उल्लास आवे तो धर्मप्रसंग में तन-मन-धन खर्च करने का भाव उछले बिना रहे नहीं; धर्मात्मा को देखते ही उसे प्रेम उमड़ता है। वह जगत् को दिखाने के लिये दानादि नहीं करता, परंतु स्वयं को अंतर में धर्म का ऐसा प्रेम सहज ही उल्लसित होता है।

धर्मात्मा की दृष्टि में तो आत्मा के आनन्दस्वभाव की ही मुख्यता है, परन्तु उसको शुभ कार्यों में दान की मुख्यता है। दृष्टि में आत्मा के आनन्द की मुख्यता रखते हुवे भूमिका अनुसार दानादि के शुभ भावों मे वह प्रवर्तता है। वह किसी को दिखाने के लिये नहीं करता, परन्तु अन्तर में धर्म के प्रति उसको सहजरूप से उल्लास आता है।

लोग स्थूल दृष्टि से धर्मी को मात्र शुभभाव करता हुवा देखते हैं, परन्तु अन्दर की गहराई में धर्मी को मूलभूत दृष्टि वर्तती है—जो स्वभाव का अवलम्बन कभी छोड़ती नहीं और राग को कभी आत्मरूप करती नहीं,—उसको दुनियाँ देखती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं, परन्तु धर्म का मूल तो वह दृष्टि है। "धर्म का मूल गहरा है।" गहरा ऐसा जो अन्तरंगस्वभावधर्म का वटवृक्ष है, उस ध्रुव ऊपर दृष्टि डालकर एकाग्रता का सींचन करते करते इस वटवृक्ष में से केवलज्ञान प्रगट होगा। अज्ञानी के शुभभाव अर्थात् परलक्षी शास्त्रपठन ये तो भादव महीने के भींडी के पौधे जैसे हैं, वे लम्बे काल तक टिकेंगे नहीं। धर्मात्मा को ध्रुवस्वभाव की दृष्टि से धर्म का विकास होता है बीच में शुभराग और पुण्य आता है उसको तो वह हेय जानता है;—जो विकार है उसकी महिमा क्या? और उससे आत्मा की महत्ता क्या? अज्ञानी तो राग द्वारा अपनी महत्ता मानकर, स्वभाव की महत्ता को भूल जाता है और संसार में भटकता है। ज्ञानी को सत्स्वभाव की दृष्टिपूर्वक जो पुण्यबंध होता है उसे सत्पुण्य कहते हैं; अज्ञानी के पुण्य को सत्पुण्य नहीं कहते।

जिसे राग की-पुण्य की और उसके फल की प्रीति है वह तो अभी संयोग ग्रहण करने की भावना वाला है, अर्थात् उसे दान की भावना सच्ची नहीं होती है। स्वयं तृष्णा घटावे तो दान का भाव कहा जाता है। परन्तु जो अभी किसी को ग्रहण करने में तत्पर है और जिसे संयोग की भावना है वह राग घटाकर दान देने में राजी कहाँ से होगा? मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी, अपने से पूर्ण है, परका ग्रहण अथवा त्याग मेरे में है ही नहीं,—ऐसे असंगस्वभाव की दृष्टि वाला जीव परसंयोगहेतु माथापच्ची न करे; इसे संयोग की भावना कितनी टल गई है? परन्तु इसका माप अन्तर की दृष्टि बिना पहिचाना नहीं जा सकता।

भाई, तुझे पुण्योदय से लक्ष्मी मिली और जैनधर्म के सच्चे देव-गुरु महारत्न तुझे महाभाग्य से मिले; अब जो तू धर्म-प्रसंग में तेरी लक्ष्मी का उपयोग करने के बदले स्त्री-पुत्र तथा विषय-कषाय के पापभाव में ही धन का उपयोग करता है तो हाथ में आया हुवा रत्न समुद्र में फेंक देने जैसा तेरा काम है। धर्म का जिसे प्रेम होता है वह तो, धर्म की वृद्धि किस प्रकार हो, धर्मात्मा कैसे आगे बढ़े, साधर्मियों को कोई भी प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर होवे—ऐसे प्रसंग विचार-विचारकर उनके लिये उत्साह से धन खर्चता है। धर्मी जीव बारम्बार जिनेन्द्रपूजन का महोत्सव करता है। पुत्र के लग्न में कितने उत्साह से धन खर्च करता है! उधार करके भी खर्चता है, तो धर्म की लगन में देव-गुरु की प्रभावना के लिये और साधर्मी के प्रेम के लिये उससे भी विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तना योग्य है। एकबार शुभभाव में कुछ खर्च कर दिया इसलिये बस है,—ऐसा नहीं, परन्तु बारम्बार शुभकार्य में उल्लास से वर्ते।

दान अपनी शक्ति अनुसार होता है, लाख-करोड़ की जायदाद में से सौ रुपया खर्च होवे—वह कोई शक्ति-अनुसार नहीं कहा जा सकता। उत्कृष्टरूप से चौथा भाग,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्यमरूप से छट्ठा भाग, कम से कम दसवाँ भाग खर्च करे उसको शक्ति-अनुसार कहा गया है।

देखिये, यह किसी प्रकार कोई पर के लिये करने की बात नहीं, परन्तु आत्मा के भान सहित परिग्रह की ममता घटाने की बात है। नये नये महोत्सव के प्रसंग तैयार करके श्रावक अपने धर्म का उत्साह बढ़ाता जाता है और पापभाव घटाता जाता है। उन प्रसंगों में मुनिराज को अथवा धर्मात्मा को अपने आँगन में पधराकर भक्ति से आहारदान करना उसका प्रधान कर्तव्य कहा गया है क्योंकि उसमें अपने धर्म के स्मरण का और धर्म की भावना की पुष्टि का सीधा निमित्त है। मुनिराज इत्यादि धर्मात्मा को देखते ही स्वयं के रत्नत्रयधर्म की भावना तीव्र हो जाती है।

कोई कहे कि हमारे पास बहुत सम्पत्ति नहीं; तो कहते हैं कि भाई, कम पूँजी हो तो कम ही वापर। तुझे तेरे भोग-विलास के लिये लक्ष्मी मिलती है और धर्मप्रभावना का प्रसंग आता है वहाँ तू हाथ खींच लेता है, तो तेरे प्रेम की दिशा धर्म की तरफ नहीं परन्तु संसार तरफ है। धर्म के वास्तविक प्रेमवाला धर्मप्रसंग में छिपता नहीं।

भाई, लक्ष्मी की ममता तो तुझे केवल पापबन्ध का कारण है; स्त्री, पुत्र के लिये या शरीर के लिये तू जो लक्ष्मी खर्च करेगा वह तो तुझे मात्र पापबंध का ही कारण होगी। और वीतरागी देव-गुरु-धर्म-शास्त्र-जिनमंदिर आदि में जो तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करेगा वह पुण्य का कारण होगी और उसमें तेरे धर्म के संस्कार भी दृढ़ होंगे। इसलिये संसार के निमित्त और धर्म के निमित्त इन दोनों का विवेक कर। धर्मात्मा श्रावक को तो सहज ही यह विवेक होता है और उसे सुपात्रदान का भाव होता है। जैसे रिश्तेदार को प्रेम से-आदर से जिमाता है उसी प्रकार, सच्चा सम्बन्ध साधर्मी से है। साधर्मी-धर्मात्माओं को प्रेम से-बहुमान से घर बुलाकर जिमाता है,—ऐसे दान के भाव को संसार से तिरने का कारण कहा, क्योंकि मुनि के या धर्मात्मा के अन्तर के ज्ञानादि की पहचान वह संसार से तिरने का सेतु होता है। सच्ची पहचान-पूर्वक दान की यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना अकेले दान के शुभपरिणाम से भव का अन्त हो जाय-ऐसा नहीं बनता। यहाँ तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक को दान के भाव होते हैं इसकी मुख्यता है।

अब इस दान के चार प्रकार हैं—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान—इनका वर्णन करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[८]

आहारदान का वर्णन

卐

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते गृहस्थ को ऐसा भाव आवे कि अहो, रत्नत्रय को साधने वाले इस संत को शरीर की अनुकूलता रहे ऐसा आहार–औषध देऊँ जिससे वह रत्नत्रय को निर्विघ्न साधे। इसमें इसे मोक्षमार्ग का बहुमान है कि अहो ! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े....आज तो मेरे आँगन में मोक्षमार्ग साक्षात् आया....वाह, धन्य ऐसा मोक्षमार्ग ! ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं उसे धर्म का प्रेम नहीं।

★

धर्मी श्रावक को आहारदान के कैसे भाव होते हैं वह यहाँ बताते हैं—

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत् तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्धृतिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तदीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूप से मोक्ष में है; उस मोक्ष की सिद्धि सम्यक्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है; रत्नत्रय निर्ग्रन्थ–दिगम्बर साधु को होता है; साधु की स्थिति शरीर के निमित्त से होती है, और शरीर की स्थिति भोजन के निमित्त से होती है; और भोजन श्रावकों द्वारा देने में आता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लिष्ट काल में भी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति "प्रायः' श्रावकों के निमित्त से हो रही है।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार का कथन है इसलिये प्रायः शब्द रखा है; निश्चय से तो आत्मा के शुद्ध भाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग टिका हुवा है, और उस भूमिका में यथाजात-रूपधर निर्ग्रन्थ शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दान के उपदेश में प्रायः इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है—ऐसा निमित्त से कहा जाता है। वास्तव में कोई आहार से या शरीर से मोक्षमार्ग टिकता है—ऐसा नहीं बताना है। अरे, मोक्षमार्ग के टिकने में जहाँ महाव्रत आदि के शुभराग का सहारा नहीं वहाँ शरीर की और आहार की क्या बात? इसके आधार से मोक्षमार्ग कहना यह तो सब निमित्त का कथन है। यहाँ तो आहारदान देने में धर्मी जीव—श्रावक का ध्येय कहाँ है? वह बताना है। दान आदि के शुभभाव के समय ही धर्मी गृहस्थ को अन्तर में मोक्षमार्ग का बहुमान है; पुण्य का बहुमान नहीं, बाह्यक्रिया का कर्तव्य नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का ही बहुमान है कि अहो, धन्य ये सन्त! धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े! आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगन में आया। अहो, धन्य यह मोक्षमार्ग! ऐसे मोक्षमार्गी मुनि को देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल उठता है, मुनि के प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है। "साचुं रे सगपण साधर्मीतणुं—अन्य लौकिक सम्बन्ध अपेक्षा इसे धर्मात्मा के प्रति विशेष उल्लास आता है। मोही जीव को स्त्री-पुत्र-भाई-बहन आदि के प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है वह तो पापभक्ति है; धर्मी जीव को देव-गुरु-धर्मात्मा के प्रति परम् प्रीतिरूप भक्ति उछल उठती है; वह पुण्य का कारण है और उसमें वीतरागविज्ञानमय धर्म के प्रेम का पोषण होता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं होती उसे धर्म के प्रति भी भक्ति नहीं, क्योंकि धर्मी के बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्म का प्रेम हो उसे धर्मात्मा के प्रति उल्लास आये बिना नहीं रहता।

सीताजी के विरह में रामचन्द्रजी की चेष्टा साधारण लोगों को तो पागल जैसी लगे, परन्तु उनका अन्तरंग कुछ जुदा ही था। अहो, सीता मेरी सहधर्मिणी! उसके हृदय में धर्म का वास है, उसे आत्मज्ञान वर्त रहा है; वह कहाँ होगी? उस जंगल में उसका क्या हुवा होगा? इसप्रकार साधर्मीपने के कारण रामचन्द्रजी को सीता के हरण से विशेष दुःख आया था। अरे, यह धर्मात्मा देव-गुरु की परम भक्त, इसे मेरा वियोग हुवा, मुझे ऐसी धर्मात्मा-साधर्मी का विछोह हुवा,—ऐसे धर्म की प्रधानता का विरह है। परन्तु ज्ञानी के हृदय को संयोग की ओर से देखने वाले मूढ़ जीव परख नहीं सकते।

धर्मी—श्रावक अन्य धर्मात्मा को देखकर आनन्दित होता है और बहुमान से आहारदान आदि का भाव आता है, उसका यह वर्णन चल रहा है। मुनि को तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई शरीर पर राग नहीं, वे तो चैतन्य की साधना में लीन हैं; और जब कभी देह की स्थिरता के लिये आहार की वृत्ति उठती है तब आहार के लिये नगरी में पधारते हैं। ऐसे मुनि को देखते गृहस्थ को ऐसे भाव आते हैं कि अहो ! रत्नत्रय को साधने वाले इन मुनि को शरीर की अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ जिससे ये रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें। इस प्रकार व्यवहार से शरीर को धर्म का साधन कहा है और उस शरीर का निमित्त अन्न है; अर्थात् वास्तव में तो आहारदान देने के पीछे गृहस्थ की भावना परम्परा से रत्नत्रय के पोषण की ही है, इसका लक्ष्य रत्नत्रय ऊपर है, और उस भक्ति के साथ अपनी आत्मा में रत्नत्रय की भावना पुष्ट करता है। श्रीराम और सीताजी जैसे भी परमभक्ति से मुनियों को आहार देते थे।

मुनियों के आहार की विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते। वे जैनधर्म की श्रद्धावाले श्रावक के यहाँ ही, नवधाभक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं। श्रावक के यहाँ भी बुलाये बिना (-भक्ति से पड़गाहन—निमंत्रण किये बिना) मुनि आहार के लिये पधारते नहीं। और पीछे श्रावक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार भक्ति से निर्दोष आहार मुनि के हाथ में देते हैं। (१-प्रतिग्रहण अर्थात् आदरपूर्वक निमंत्रण, २-उच्च आसन, ३-पाद-प्रक्षालन, ४-पूजन-स्तुति, ५-प्रणाम, ६-मनशुद्धि, ७-वचनशुद्धि, ८-कायशुद्धि और ९-आहारशुद्धि—ऐसी नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक आहार-दान दे।) जिस दिन मुनि के आहारदान का प्रसंग अपने आँगन में हो उस दिन उस श्रावक के आनन्द का पार नहीं होता। श्रीराम और सीता जैसे भी जंगल में मुनि को भक्ति से आहारदान करते हैं उस समय एक गृद्धपक्षी (-जटायु) भी उन्हें देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरणज्ञान होता है। श्रेयांसकुमार ने जब ऋषभमुनि को प्रथम आहारदान दिया तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे। यहाँ मुनि की उत्कृष्ट बात ली, उसी प्रकार अन्य साधर्मी श्रावक धर्मात्मा के प्रति भी आहारदान आदि का भाव धर्मी को होता है। ऐसे शुभभाव श्रावक की भूमिका में होते हैं इसलिये उसे श्रावक का धर्म कहा है, तो भी उसकी मर्यादा कितनी ?—कि पुण्यबन्ध हो इतनी, इससे अधिक नहीं। दान की महिमा का वर्णन करते हुवे उपचार से ऐसा भी कहा है कि मुनि को आहारदान श्रावक का मोक्ष का कारण है,—वहाँ वास्तव में तो श्रावक को उस समय में जो पूर्णता के लक्ष्य से सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान वर्तता है वही मोक्ष का कारण है, राग कहीं मोक्ष का कारण नहीं,—ऐसा समझना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सब जीवों को सुख चाहिये।
पूर्ण सुख मोक्षदशा में है।
* मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।
* यह रत्नत्रय निर्ग्रंथ मुनि को होता है।
* मुनि का शरीर आहारादि के निमित्त से टिकता है।
* आहार का निमित्त गृहस्थ-श्रावक है।
* इसलिये परम्परा से गृहस्थ मोक्षमार्ग का कारण है।

जिस श्रावक ने मुनि को भक्ति से आहारदान दिया उसने मोक्षमार्ग टिकाया, ऐसा परम्परा निमित्त अपेक्षा कहा है। परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शन सहित हैं, दोनों को राग का निषेध और पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव का आदर वर्तता है। आहारदान देनेवाले को भी सत्पात्र और कुपात्र का विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्यलिंगी को गुरु मानकर आदर करे उसमें तो मिथ्यात्व की पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावक को तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का प्रेम है। सुख तो मोक्षदशा में है ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे अन्य कहीं सुखबुद्धि नहीं। रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि ऐसे मोक्षसुख को साध रहे हैं, इससे मोक्षाभिलाषी जीव को ऐसे मोक्षसाधक मुनि के प्रति परम उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है; वहाँ आहारदान आदि के प्रसंग सहज ही बन जाते हैं।

देखो, यहाँ तो श्रावक भी ऐसा है कि जिसे मोक्षदशा में ही सुख भासित हुवा है, संसार में अर्थात् पुण्य में—राग में—संयोग में कहीं सुख भासता नहीं। जिसे पुण्य में मिठास लगे, राग में सुख लगे, उसे मोक्ष के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति नहीं, और मोक्षमार्गी मुनिवर के प्रति उसे सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो रागरहित है; इसे पहचाने बिना, राग को सुख का कारण माने उसे मोक्ष की अथवा मोक्षमार्गी संतो की पहचान नहीं। और पहचान बिना की भक्ति को सच्ची भक्ति नहीं कही जाती।

मुनि को आहार देने वाले श्रावक का लक्ष्य मोक्षमार्ग पर है कि अहो! ये धर्मात्मा मुनिराज मोक्षमार्ग को साध रहे हैं। वह इस मोक्षमार्ग के बहुमान से और उसकी पुष्टि की भावना से आहारदान देता है इससे उसे मोक्षमार्ग टिकाने की भावना है और अपने में भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करने की भावना है, इसलिये कहा है कि आहारदान देने वाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति होती है। जैसे बहुत बार संघ जिमाने वाले को ऐसी भावना होती है कि इसमें कोई जीव बाकी नहीं रहना चाहिये; क्योंकि इसमें कदाचित् कोई जीव तीर्थंकर होने वाला हो तो!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार जिमाने में उसे अव्यक्तरूप से तीर्थंकर आदि के बहुमान का भाव है। उसीप्रकार यहाँ मुनि को आहार देने वाले श्रावक की दृष्टि मोक्षमार्ग पर है, आहार देऊँ और पुण्य बँधे-इस पर उसका लक्ष्य नहीं। इसका एक दृष्टान्त आता है कि कोई ने भक्ति से एक मुनिराज को आहारदान दिया और उसके आँगन में रत्नवृष्टि हुई, दूसरा कोई लोभी मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराज को आहारदान दूँ जिससे मेरे घर रत्नों की वृष्टि होगी।-देखो, इस भावना में तो लोभ का पोषण है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं होती; श्रावक को तो मोक्षमार्ग के पोषण की भावना हो कि अहो! चैतन्य के अनुभव से जैसा मोक्षमार्ग ये मुनिराज साध रहे हैं वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ ऐसी मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति की भावना उसे वर्तती है। इसलिये इस क्लिष्ट काल में भी प्रायः ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति है-ऐसा कहा है।

अन्दर में शुद्धदृष्टि तो है, राग से पृथक् चैतन्य का वेदन हुवा है, वहाँ श्रावक को ऐसे शुभभाव आवें उसके फल से वह मोक्षफल को साधता है ऐसा भी उपचार से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में उस समय अंतर में जो राग से परे दृष्टि पड़ी है वही मोक्ष को साध रही है। (प्रवचनसार गाथा २५४ में भी इसी अपेक्षा बात की है।) अन्तर्दृष्टि को समझे बिना मात्र राग से वास्तविक मोक्ष प्राप्ति मान ले तो उसे शास्त्र के अर्थ की अथवा संतों के हृदय की खबर नहीं, मोक्षमार्ग का स्वरूप वह नहीं जानता। यह अधिकार ही व्यवहार की मुख्यता से है, इसलिये इसमें तो व्यवहार-कथन होगा; अन्तर्दृष्टि का परमार्थ लक्ष्य में रखकर समझना चाहिये।

एक ओर जोरशोर से भार देकर ऐसा कहा जाता है कि भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है, और यहाँ कहा कि आहार के या शरीर के निमित्त से धर्म टिकता है,-तो भी उसमें कोई परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि पहला परमार्थ-कथन है और दूसरा उपचारकथन है। मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिये हुये दान से चलती है, इसमें प्रायः शब्द यह सूचित करता है कि यह नियम-रूप नहीं; जहाँ शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिके वहाँ आहारादि को निमित्त कहा जाता है,— अर्थात् यह तो उपचार ही हुवा। शुद्धात्मा के आश्रय से मोक्षमार्ग टिकता है—यह नियमरूप सिद्धान्त है, इसके बिना मोक्षमार्ग हो नहीं सकता।

सुख अर्थात् मोक्ष; आत्मा की मोक्षदशा यही सुख है, इसके अलावा मकान में, पैसे में, स्त्री में, राग में,—कहीं सुख नहीं, धर्मी को आत्मा सिवाय कहीं सुखबुद्धि नहीं। चैतन्य के बाहर किसी प्रवृत्ति में कहीं सुख है ही नहीं। आत्मा के मुक्त स्वभाव के अनुभव में सुख है। सम्यग्दृष्टि ने ऐसी आत्मा का निश्चय किया है, उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख का स्वाद चखा है। और जो उग्र अनुभव द्वारा मोक्ष को साक्षात् साध रहे हैं ऐसे मुनि के प्रति अत्यन्त उल्लास से और भक्ति से वह आहारदान देता है।

आनन्दस्वरूप आत्मा में श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता मोक्ष का कारण है और बीच के व्रतादि शुभपरिणाम पुण्यबन्ध के कारण हैं। आत्मा के आनन्दसागर को उछालकर उसमें जो मग्न हैं ऐसे नग्नमुनि रत्नत्रय को साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देह के टिकाने का कारण आहार है, इसलिये जिसने भक्ति से मुनि को आहार दिया उसने मोक्षमार्ग दिया, अर्थात् उसके भाव में मोक्षमार्ग टिकाने का आदर हुवा। इस प्रकार भक्ति से आहारदान देने वाला श्रावक इस दुःषम्काल में मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति का कारण है। धर्मात्मा श्रावक को ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्र को रोज भक्ति से दान देना चाहिए। अहो, मेरे घर कोई धर्मात्मा संत पधारें, ज्ञान-ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाले कोई संत मेरे घर पधारें, तो भक्ति से उन्हें भोजन कराकर पीछे मैं भोजन करूँ। ऐसा भाव गृहस्थ-श्रावक को रोज रोज आता है। ऋषभदेव के जीव ने पूर्व के आठवें भव में मुनिवरों को परमभक्ति से आहारदान दिया था, और तिर्यंचों ने भी उसका अनुमोदन करके उत्तमफल प्राप्त किया था, यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमार ने आदिनाथ मुनिराज को आहारदान दिया था, चन्दना सती ने महावीर मुनिराज को आहारदान दिया था। —ये सब प्रसंग प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार चार प्रकार के दान में से आहारदान की चर्चा की, अब दूसरे औषधिदान का उपदेश देते हैं।

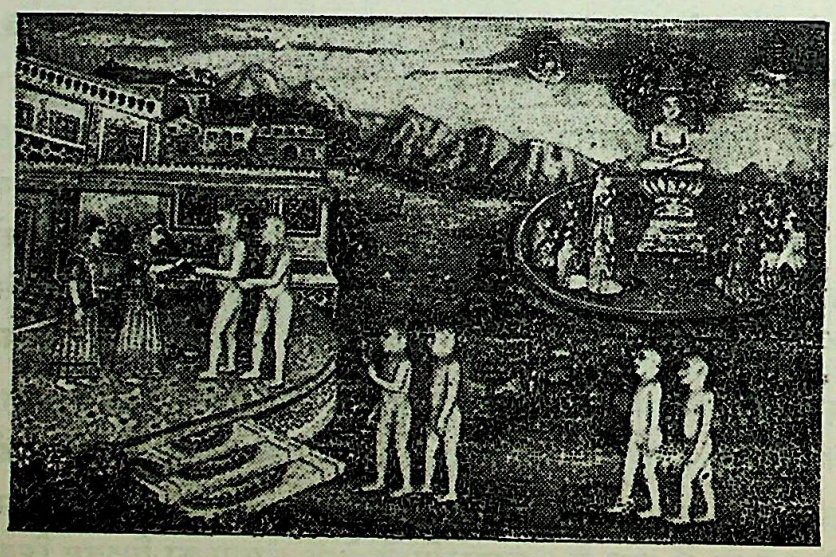

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[९]

औषधिदान का वर्णन

देखिये, यहाँ दान में सामने सत्पात्ररूप मुख्यतः मुनि को लिया है, अर्थात् धर्म के लक्ष्यपूर्वक दान की इसमें मुख्यता है। दान करने वाले की दृष्टि मोक्षमार्ग पर लगी है। शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान के कपाट खोल रहे मुनिवर देह के प्रति निर्मम होते हैं। परन्तु श्रावक भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर निर्दोष आहार के साथ निर्दोष औषधि भी देता है। मुनि को तो चैतन्य के अदर अमृतसागर में से आनन्द की लहरें उछली हैं, इन्हें ठंड-गर्मी का अथवा देह की रक्षा का लक्ष्य कहाँ है!

श्रावक मुनि आदि को औषधदान देवे—यह कहते हैं—

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्र भारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

इच्छानुसार आहार-विहार और सम्भाषण द्वारा शरीर निरोग रहता है, परन्तु मुनियों को तो इच्छानुसार भोजनादि नहीं होता इसलिये उनका शरीर प्रायः अशक्त ही रहता है। परन्तु उत्तम गृहस्थ योग्य औषधि तथा पथ्य भोजन-पानी द्वारा मुनियों के शरीर को चारित्रपालन हेतु समर्थ बनाता है। इस प्रकार मुनि-धर्म की प्रवृत्ति उत्तम श्रावक द्वारा होती है। अतः धर्मी गृहस्थों को ऐसे दानधर्म का पालन करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान के कपाट खोल रहे हैं ऐसे मुनिराज शरीर से भी अत्यन्त उदासीन होते हैं, वे वन-जंगल में रहते हैं, ठंड में ओढ़ना अथवा गर्मी में स्नान करना उन्हें नहीं होता, रोगादि होवे तो भी औषधि नहीं लेते, दिन में एक बार आहार लेते हैं, उसमें भी कोई बार ठंडा आहार मिलता है, कोई समय भरगर्मी में गरम आहार मिलता है, इस प्रकार इच्छानुसार आहार उनको नहीं मिलता, अतः मुनि को कई बार रोग—निर्बलता आदि हो जाती है, परन्तु ऐसे प्रसंग में धर्मात्मा उत्तम श्रावक मुनि का ध्यान रखते हैं, उनको रोग वगैरह हुवा हो तो उसे जानकर, आहार के समय आहार के साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं, तथा ऋतु अनुसार योग्य आहार देते हैं। इस प्रकार भक्तिपूर्वक श्रावक मुनि का ध्यान रखते हैं। यहाँ उत्कृष्टरूप से मुनि की बात ली है। इससे यह न समझना कि मुनि को छोड़कर अन्य जीवों को आहार अथवा औषधदान देने का निषेध है। श्रावक अन्य जीवों को भी उनकी भूमिका के योग्य आदर से अथवा करुणाबुद्धि से योग्य दान देवे। परन्तु धर्मप्रसंग की मुख्यता है, वहाँ धर्मात्मा को देखते ही विशेष उल्लास आता है। मुनि उत्तम पात्र है इस कारण उसकी मुख्यता है।

अहो मुनिदशा क्या है—उसकी जगत को खबर नहीं। छोटा-सा राजकुमार हो और मुनि होकर चैतन्य को साधता हो, चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन जिसको प्रगट हुवा हो ऐसा मुनि देह से तो अत्यन्त उदासीन है।

सर्व भावथी औदासिन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।

चाहे जितनी ठंड हो परन्तु देह सिवाय अन्य परिग्रह जिसे नहीं, बाह्यदृष्टि वाले जीवों को लगता है कि ऐसा मुनि बहुत दुःखी होगा। अरे भाई, इसके अन्तर में तो आनन्द की धारायें बहती हैं,—कि जिस आनन्द की कल्पना भी तुझे नहीं आ सकती। चैतन्य को इस आनन्द की अभिलाषा में ठंड-गर्मी का लक्ष्य ही कहाँ है? जिस प्रकार मध्यबिन्दु से सागर उछलता है उसी प्रकार चैतन्य के अन्तर के मध्य में से मुनि को आनन्द की लहरें उछलती हैं। ऐसे मुनि को रोगादि होवे तो भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर उत्तम गृहस्थ पथ्य आहार के साथ योग्य औषधि भी देते हैं—इसका नाम साधु वैयावृत्य है; वह गुरुभक्ति का एक प्रकार है। श्रावक के कर्तव्य में पहले देवपूजा की और दूसरी गुरुउपासना कही, उसमें इस प्रकार के भाव श्रावक को होते हैं। मुनि स्वयं तो बोलते नहीं कि मुझे ऐसा रोग हुवा है, अतः ऐसी खुराक अथवा ऐसी दवा देवो, परन्तु भक्तिवान श्रावक इसका ध्यान रखता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखिये ! इसमें मात्र शुभराग की बात नहीं, परन्तु सर्वज्ञ की श्रद्धा और सम्यग्दर्शन कैसे हो वह पहले बताया गया है, ऐसी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्म की यह बात है जहाँ श्रद्धा ही सच्ची नहीं और कुदेव, कुगुरु का सेवन होता है वहाँ तो श्रावकधर्म नहीं होता। श्रावक को मुनि आदि धर्मात्मा के प्रति कैसा प्रेम होता है वह यहाँ बताना है। जिस प्रकार अपने शरीर में रोगादि होने पर दवा करवाने का राग होता है, तो मुनि इत्यादि धर्मात्मा के प्रति भी धर्मी को वात्सल्यभाव से औषधि-दान का भाव आता है। गृहस्थ प्यारे पुत्र को रोगादि होने पर उसका कैसे ध्यान रखता है ! तो धर्मी को तो सबसे प्रिय मुनि आदि धर्मात्मा हैं, उनके प्रति उसे आहारदान-औषधिदान-शास्त्रदान इत्यादि का भाव आये बिना रहता नहीं। यहाँ कोई दवा से शरीर अच्छा रहता है अथवा शरीर से धर्म टिकता है—ऐसा सिद्धान्त नहीं स्थापना है, परन्तु धर्मी को राग किस प्रकार होता है वह बताना है। जिसे धर्म की अपेक्षा संसार की तरफ का प्रेम अधिक रहे वह धर्मी कैसा? संसार में जीव स्त्री-पुत्र आदि की वर्षगांठ, लग्न-प्रसंग आदि के बहाने राग की पुष्टि करता है,—वहाँ तो अशुभभाव है तो भी पुष्टि करता है, तो धर्म का जिसे रंग है वह धर्मी जीव भगवान के जन्मकल्याणक, मोक्षकल्याणक, कोई यात्रा-प्रसंग, भक्ति-प्रसंग, ज्ञान-प्रसंग—आदि के बहाने धर्म का उत्साह व्यक्त करता है। शुभ के अनेक प्रकारों में औषधिदान का भी प्रकार श्रावक को होता है, उसकी बात की। अब तीसरा ज्ञानदान है उसका वर्णन करते हैं।

★ हे श्रावक !

यह भवदुःख तुझे प्रिय न लगता हो और स्वभावसुख का अनुभव तू चाहता हो, तो तेरे ध्येय की दिशा पलट दे; जगत् से उदास होकर अन्तर में चैतन्य को ध्याने से तुझे परम आनन्द प्रगट होगा और भव की लता क्षण में टूट जावेगी। आनन्दकारी परम-आराध्य चैतन्यदेव तेरे में ही विराज रहा है। ★

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१०]

ज्ञानदान अथवा शास्त्रदान का वर्णन

कुन्दकुन्दाचार्य के जीव ने पूर्व में ग्वाले के भव में भक्तिपूर्वक मुनि को शास्त्र दिया था—वह उदाहरण शास्त्रदान के लिये प्रसिद्ध है। देखो, इस ज्ञानदान की बड़ी महिमा है। जिसने सच्चे शास्त्र की पहचान करली है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे ऐसा भाव आता है कि अहो, एसी जिनवाणी और ऐसी गुरुवाणी का जगत में प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ज्ञान के बहुमानपूर्वक शास्त्रदान द्वारा ज्ञान का बहुत क्षयोपशम-भाव प्रगट होता है।

ज्ञानदान की महिमा और उसका महान फल केवलज्ञान बताते हैं—

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नत्तधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्य-लोकोत्सवः
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥ १० ॥

सर्वज्ञदेव के कहे हुए शास्त्रों का भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना तथा विशाल बुद्धिवाले जीवों को स्वाध्यायहेतु पुस्तक देना उसे ज्ञानीजन शास्त्रदान या ज्ञानदान कहते हैं। ऐसे ज्ञानदान का फल क्या? तो कहते हैं कि ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव थोड़े ही भवों में, तीन लोक को आनन्दकारी तथा कल्याणकारी अर्थात् समवशरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि लक्ष्मी को करने वाली, और लोक के समस्त पदार्थों को हस्तरेखा समान देखने वाली ऐसी केवलज्ञानज्योति प्राप्त करता है; अर्थात् तीर्थंकर-पद सहित केवल-ज्ञान को प्राप्त करता है, ज्ञान की आराधना का जो भाव है उसके फल में केवलज्ञान प्राप्त होता है और बीच में ज्ञान के बहुमान का, धर्मी के बहुमान का जो शुभभाव है उससे तीर्थंकर-पद आदि मिलता है। इसलिये अपने हित को चाहने वाले श्रावक को हमेशा ज्ञानदान करना चाहिये।

देखो, इस ज्ञानदान की महिमा! सच्चे शास्त्र कौन हैं उसकी जिसने पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे ऐसा भाव आता है कि अहो, ऐसी जिनवाणी का जगत् में प्रचार हो, और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ऐसी ज्ञान-प्रचार की भावनापूर्वक स्वयं शास्त्र लिखे, लिखावे, पढ़े, प्रसिद्ध करे, लोगों को सरलता से शास्त्र मिलें—ऐसा करे,—ऐसे ज्ञानदान का भाव धर्मी जीव को आता है, धर्म-जिज्ञासु को भी ऐसा भाव आता है।

ज्ञानदान में स्वयं के ज्ञान का बहुमान पुष्ट होता है। वहाँ किसी सम्यग्दृष्टि जीव को ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि वह तीर्थंकर होता है, और समवशरण में दिव्य-ध्वनि खिरती है, इस दिव्यध्वनि को झेलकर बहुत से जीव धर्म प्राप्त करते हैं। "अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग" अर्थात् ज्ञान के तीव्र रस से बारम्बार उसमें उपयोग लगाना उसे भी तीर्थंकर-प्रकृति का कारण कहा है। परन्तु ऐसे भाव वास्तव में किसे होते हैं? ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो अर्थात् स्वयं धर्म प्राप्त किया हो उसे ही ज्ञानदान या अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग यथार्थरूप से होता है। सच्चा मार्ग जिसने जान लिया है ऐसे श्रावक के धर्म की यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना तो व्रत-दान आदि शुभ करते हुए भी वह अनादि से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ तो भेदज्ञान प्रगट कर जो मोक्षमार्ग में आरूढ़ है ऐसे जीव की बात है। जिसने स्वयं ही ज्ञान नहीं पाया वह अन्य को ज्ञानदान क्या करेगा? ज्ञान के निर्णय बिना शास्त्र आदि के बहुमान से पुस्तक आदि का दान करे उसमें मोक्षमार्ग बिना पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ श्रावक-धर्म में तो मोक्षमार्ग सहित दानादि की प्रधानता है; अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो प्रथम करनी चाहिये, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। ज्ञानदान—शास्त्रदान करने वाले श्रावक को सत्शास्त्र और कुशास्त्र के बीच विवेक है। सर्वज्ञ की वाणी झेलकर गणधरादि सन्तों द्वारा रचे हुए वीतरागी शास्त्रों को पहचान कर उनका दान और प्रचार करे; परन्तु मिथ्यादृष्टियों के रचे हुवे, तत्त्वविरुद्ध, कुमार्ग का पोषण करने वाले ऐसे कुशास्त्रों को वह नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माने, उनका दान या प्रचार नहीं करे। अनेकान्तमय सत्शास्त्र को पहचानकर उनका ही दानादि करे।

संयोग की और अशुद्धता की रुचि छोड़कर, अपने चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि-रुचि-प्रीति करना वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्म की पहली वस्तु है, उसके बिना पुण्य बँधता है परन्तु कल्याण नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता। पुण्य की रुचि में रुका, पुण्य के विकल्प में कर्तृत्वबुद्धि से तन्मय होकर रुका उसे पुण्य के साथ-साथ मिथ्यात्व का पाप भी बँधता है। पंडित श्री टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक के छठे अध्याय में कहते हैं कि—"जैनधर्म में तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छोड़कर पीछे छोटा पाप छोड़ने में आता है। इसलिये इस मिथ्यात्व को सात व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिये जो पाप के फल से डरता हो, और निज के आत्मा को दुःखसमुद्र में डुबाना न चाहता हो वह जीव इस मिथ्यात्व-पाप को अवश्य छोड़े। निन्दा-प्रशंसा आदि के विचार से भी शिथिल होना योग्य नहीं।"

कोई कहे कि सम्यक्त्व तो बहुत ऊँची भूमिका में होता है, पहले तो व्रत-संयम होना चाहिये, तो उसे जिनमत के क्रम की खबर नहीं। "जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, पीछे व्रत हो।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २९५) "मुनिपद लेने का क्रम तो यह है कि पहले तत्त्वज्ञान हो, पीछे उदासीन परिणाम हो, परीषहादि सहन करने की शक्ति हो और वह स्वयं की प्रेरणा से ही मुनि होना चाहे, तब श्रीगुरु उसे मुनिधर्म अंगीकार करावें। परन्तु यह तो किस प्रकार की विपरीतता है कि तत्त्वज्ञानरहित और विषयासक्त जीव को माया द्वारा अथवा लोभ बताकर मुनिपद देकर, पीछे से अन्यथा प्रवृत्ति करानी!—यह तो बड़ा अन्याय है।"—दो सौ वर्ष पूर्व पंडित टोडरमलजी का यह कथन है।

बन्ध के पाँच कारणों में मिथ्यात्व सबसे मुख्य कारण है। मिथ्यात्व छोड़े बिना अव्रत अथवा कषाय आदि नहीं छूटते। मिथ्यात्व छूटते ही अनन्त बन्धन एक क्षण में टूट जाते हैं। जिसे अभी मिथ्यात्व छोड़ने की ही तो इच्छा नहीं उसे अव्रत कहाँ से छूटेंगे? और व्रत कहाँ से आवेंगे? आत्मा क्या है उसकी जिसे खबर नहीं वह किसमें स्थिर रहकर व्रत करेगा। चिदानन्द स्वरूप के अनुभव होने के पश्चात् उसमें कुछ विशेष स्थिरता करते हैं, तो दो कषायों की चौकड़ी के अभावरूप पंचम-गुणस्थान प्रगट होता है और उसे सच्चे व्रत होते हैं। ऐसे श्रावकधर्म के उद्योत का यह अधिकार है।

सम्यग्दर्शन बिना क्लेश (आनन्द नहीं पर क्लेश) सहन करके मर जाय तो भी भव घटने के नहीं। समयसार-कलश टीका, पृष्ठ १२६ में पंडित राजमलजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं कि—शुभक्रिया परम्परा से—आगे जाकर मोक्ष का कारण होगी—ऐसा अज्ञानी को भ्रम है। हिंसा झूठ चोरी अब्रह्म परिग्रह इनसे रहितपना, तथा महान परीषहों का सहना,—इसके बड़े बोझ से, बहुत कालतक मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, परन्तु इसके द्वारा कर्मक्षय तो होता नहीं।' अज्ञानी की यह सब शुभ-क्रिया तो कारणरूप है, दुःखरूप है, शुद्धस्वरूप के अनुभव की तरह यह कोई सुखरूप नहीं, अनुभव का जो परम आनन्द है उसकी गंध भी शुभराग में नहीं। ऐसे शुभराग को कोई मोक्ष का कारण माने,—परम्परा से भी इस राग को मोक्ष का कारण होना माने तो कहते हैं कि वह झूठा है, भ्रम में है। मोक्ष का कारण यह नहीं; मोक्ष का कारण तो शुद्धस्वरूप का अनुभव है।

प्रश्नः—चौथे काल में शुद्धस्वरूप का अनुभव मोक्ष का कारण भले हो, परन्तु इस कठिन पंचमकाल में तो राग मोक्ष का कारण होगा न?

उत्तरः—पंचम काल में हुए मुनि पंचम काल के जीवों को तो यह बात समझाते हैं।-चौथे काल का धर्म जुदा और पंचम काल का धर्म जुदा-ऐसा नहीं है। धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग तीनों काल में एक ही प्रकार का है। जब और जहाँ, जो कोई जीव मोक्ष प्राप्त करेगा वह राग को छोड़कर शुद्धस्वरूप के अनुभव से ही प्राप्त करेगा। चाहे किसी भी क्षेत्र में, कोई भी जीव राग द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं करता, यह नियम है।

प्रथम जिसने मोक्षमार्ग के ऐसे स्वरूप का निर्णय किया है और सम्यग्दर्शन द्वारा अपने में उसका अंश प्रगट किया है, उसे बाद में राग की मंदता के कौन से प्रकार होते हैं उनके कथन में चार प्रकार के दान की बात चल रही है। मुनि आदि धर्मात्मा के प्रति भक्ति से आहारदान-औषधिदान के पश्चात् शास्त्रदान का भी भाव श्रावक को आता है। इसे वीतरागी शास्त्रों का बहुत विनय और बहुमान होता है; वीतरागी ज्ञान की प्रभावना कैसी हो, बहुत जीवों में इसका प्रचार कैसे हो, इसके लिये वह अपनी शक्ति लगावे इसमें अन्य जीव समझे या न समझे उसकी मुख्यता नहीं परन्तु धर्मी को अपने सम्यग्ज्ञान का बहुत प्रेम है उसकी मुख्यता है; अर्थात् अन्य जीव भी सच्चा तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त करे वैसी भावना धर्मी को होती है।

सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये शास्त्रों का रहस्य स्वयं जानकर अन्य को उसे समझाना और भक्ति से उसका प्रचार करना वह ज्ञानदान है। अन्तर में तो स्वयं ने स्वयं को सम्यग्ज्ञान का दान दिया, और बाह्य में अन्य जीव भी ऐसा ज्ञान प्राप्त करें और भवदुःख से छूटें—ऐसी भावना धर्मी को होती है। शास्त्र के ज्ञान के बहाने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य को समझाने अथवा प्रचार करने के बहाने अपनी मान-प्रतिष्ठा अथवा बड़प्पन की भावना हो तो वह पाप है। धर्मी को ऐसी भावना नहीं होती। धर्मात्मा तो कहता है कि अरे, हमारी ज्ञानचेतना से हमारा कार्य हमारी आत्मा में हो रहा है, वहाँ बाहर अन्य को बताने का क्या काम है। अन्य जीव जाने तो इसे संतोष हो ऐसा नहीं, इसे तो अन्तर में आत्मा से ही सन्तोष है।

"स्वयं एकाकी अन्तर में अपनी आत्मा का कल्याण करले वह बड़ा, अथवा बहुत से जीवों को समझावे वह बड़ा?"—अरे भाई! अन्य समझे कि न समझे उसके साथ इसको क्या संबंध? कदाचित् अन्य बहुत से जीव समझें तो भी उस कारण से इसे जरा भी लाभ हुआ हो ऐसा नहीं; और धर्मी को कदाचित् वाणी का योग कम हो (-मूक केवली भगवान की तरह वाणी का योग न भी हो) तो उससे कोई उसका अन्तर का लाभ रुक जावे ऐसा नहीं। बाह्य में अन्य जीव समझे इस पर से धर्मी का जो माप करना चाहता है उसे धर्मी की अंतरदशा की पहचान नहीं।

यहाँ ज्ञानदान में तो यह बात है कि स्वयं को ऐसा भाव होता है कि अन्य जीव भी सच्चे ज्ञान को प्राप्त हों, परन्तु अन्य जीव समझें या न समझें यह उनकी योग्यता पर है, उनके साथ इसे कोई लेना-देना नहीं। स्वयं को पहले अज्ञान था और महादुःख था, वह दूर होकर स्वयं को सम्यग्ज्ञान हुवा और अपूर्व सुख प्रगट हुवा अर्थात् स्वय को सम्यग्ज्ञान की महिमा भासी है, इससे अन्य जीव भी ऐसे सम्यग्ज्ञान को प्राप्त हों तो उनका दुःख मिटे और सुख प्रगटे—इस प्रकार धर्मी को अन्तर में ज्ञान की प्रभावना का भाव आता है और साथ में उसी समय अन्तर में शुद्धात्मा की भावना से ज्ञान की प्र-भावना—उत्कृष्ट भावना और वृद्धि अन्तर में हो रही है।

देखो, यह श्रावक की दशा! ऐसी दशा हो तभी जैन को श्रावकपना कहलाता है, और मुनिदशा तो उसके पश्चात् होती है। उसने सर्वज्ञ का और सर्वज्ञ की वाणी का स्वयं निर्णय किया है। जिसे स्वयं को ही निर्णय नहीं वह सच्चे ज्ञान की क्या प्रभावना करेगा? यह तो अपने ज्ञान में निर्णय सहित धर्मात्मा की बात है। और धर्मात्मा को, विशेष बुद्धिमान को बहुमानपूर्वक शास्त्र देना वह भी ज्ञानदान है, शास्त्रों का सच्चा अर्थ समझाना, प्रसिद्ध करना वह भी ज्ञानदान का भेद है। किसी साधारण मनुष्य को ज्ञान का विशेष प्रेम हो और उसे शास्त्र न मिलते हों तो धर्मी उसे प्रेमपूर्वक प्रबन्ध करके देवे।-ऐसा भाव धर्मी को आता है। अपने पास कोई शास्त्र हो और दूसरे के पास न हो वहाँ, अन्य पढ़ेगा तो मुझसे आगे बढ़ जावेगा अथवा मेरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझना कम हो जावेगा—ऐसी ईर्षावश या मानवश; शास्त्र पढ़ने को माँगे और वह न दे-ऐसे जीव को ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं और शुभ भाव का भी ठिकाना नहीं। भाई, अन्य जीव ज्ञान में आगे बढ़ता हो तो भले बढ़े, तुझे उसका अनुमोदन करना चाहिये। तुझे ज्ञान का प्रेम हो तो, अन्य भी ज्ञान प्राप्त करे इसमें अनुमोदन हो कि ईर्षा हो? अन्य के ज्ञान की जो ईर्षा आती है तो तुझे शास्त्र पढ़-पढ़कर मान का पोषण करना है, तुझे ज्ञान का सच्चा प्रेम नहीं। ज्ञान के प्रेमी को अन्य के ज्ञान की ईर्षा नहीं होती परन्तु अनुमोदना होती है। एक जीव बहुत समय से मुनि हो, दूसरा जीव पीछे से अभी ही मुनि हुवा हो और शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त करले, वहाँ पहले मुनि को ऐसी ईर्षा नहीं होती कि अरे, अभी तो आज ही दीक्षा ली और मुझसे पहले इसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया! परन्तु उलटकर अनुमोदना आती है कि वाह! धन्य है इसे कि इसने केवलज्ञान साध लिया, मुझे भी यही इष्ट है, मुझे भी यही करना है.....इसप्रकार अनुमोदना द्वारा अपने पुरुषार्थ को जागृत करता है। ईर्षा करने वाला तो अटकता है, और अनुमोदना करने वाला अपने पुरुषार्थ को जागृत करता है। अपने अंतरंग में जहाँ ज्ञानस्वभाव का बहुमान है वहाँ राग के समय ज्ञान की प्रभावना का और अनुमोदना का भाव आये विना नहीं रहता। ज्ञान के बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समय में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। राग का फल केवलज्ञान नहीं परन्तु ज्ञान के बहुमान का फल केवलज्ञान है। और साथ में शुभराग से जो उत्तम पुण्यबंध है उसके फल में समवशरण आदि की रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेगा। अभी यहाँ चाहे किसी को खबर न हो परन्तु केवलज्ञान होते ही तीनलोक में आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र इसका महोत्सव करेंगे और तीनलोक में आनन्द होगा।

अहो, यह तो वीतरागमार्ग है! वीतराग का मार्ग तो वीतराग ही होता है ना? वीतरागभाव की वृद्धि हो यही सच्ची मार्गप्रभावना है। राग को जो आदरणीय बतावे वह जीव वीतरागमार्ग की प्रभावना कैसे कर सकता है? उसे तो राग की ही भावना है। जैनधर्म के चारों अनुयोगों के शास्त्रों का तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बताकर चारों अनुयोगों का प्रचार करे। प्रथमानुयोग में तीर्थंकरादि महान् धर्मात्माओं के जीवन की कथा, चरणानुयोग में उनके आचरण का वर्णन, करणानुयोग में गुणस्थान आदि का वर्णन और द्रव्यानुयोग में अध्यात्म का वर्णन—इन चार प्रकार के शास्त्रों में वीतरागता का ही तात्पर्य है। इन शास्त्रों का बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे। जवाहरात के गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदि को कैसे प्रेम से घर में सम्भालकर रखते हैं,—इसकी अपेक्षा विशेष प्रेम से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शास्त्रों को घर में विराजमान करे, और सजाकर के उनका बहुमान करे।—यह सब ज्ञान का विनय है।

शास्त्रदान के सम्बन्ध में कुन्दकुन्द स्वामी की पूर्वभव की कथा प्रसिद्ध है; पूर्वभव में वह एक सेठ के यहाँ गायों का ग्वाला था। एकवार उस ग्वाले को वनमें कोई शास्त्र मिला; उसने अत्यन्त बहुमानपूर्वक किन्हीं मुनिराज को वह शास्त्रदान किया। उस समय अव्यक्तरूप से ज्ञान की अचिंत्य महिमा का कोई भाव पैदा हुआ; इससे वह उस सेठ के घर ही जन्मा; छोटी उम्र में ही मुनि हुआ और ज्ञान का अगाध समुद्र उनको उल्लसित हुआ। अहा, उन्होंने तो तीर्थंकर परमात्मा की दिव्य-वाणी साक्षात् सुनी, और भरतक्षेत्र में ज्ञान की नहर चलाई। इनके अन्तर में ज्ञान की बहुत शुद्धि प्रगट हुई और बाह्य में भी श्रुत की महान् प्रतिष्ठा इस भरतक्षेत्र में उन्होंने की। अहा, उनके निजवैभव की क्या बात! ज्ञानदान से अर्थात् ज्ञान के बहुमान के भाव से ज्ञान का क्षयोपशमभाव खिलता है, और यहाँ तो उसका उत्कृष्ट फल बताते हुए कहते हैं कि वह जीव थोड़े भव में केवलज्ञान प्राप्त करेगा, उसे समवशरण की शोभा की रचना होगी और तीनलोक के जीव उनका उत्सव मनावेंगे। क्योंकि ज्ञानानन्द स्वभाव की आराधना साथ में वर्तती है अर्थात् आराधकभाव की भूमिका में ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है। उसमें धर्मी का लक्ष्य ज्ञानस्वभाव की आराधना पर है, राग अथवा पुण्य पर उसका लक्ष्य नहीं, वह तो बीच में अनाज के साथ के भूसे की तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानस्वभाव की आराधना से धर्मी जीव सर्वज्ञपद को साधता है। उसे किसी समय ऐसा भी होता है कि, अरे! हम भगवान के पास होते भगवान की वाणी सुनते और भगवान से प्रश्नों का सीधा समाधान लेते, अब भरतक्षेत्र में भगवान का विरह हुआ, किनसे प्रश्न पूछूँ? और कौन समाधान करे? धर्मात्मा को सर्वज्ञ-परमात्मा के विरह का ऐसा भाव आता है। भरत चक्रवर्ती जैसे को भी ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे तब ऐसा विरह का भाव आया था। अंतरंग में निज के पूर्ण ज्ञान की भावना है, कि अरे! इस पंचमकाल में अपने सर्वज्ञपद का हमको विरह! अर्थात् निमित्त में भी सर्वज्ञ का विरह सताता है। इस भरतक्षेत्र में कुंदकुंद प्रभु को विचार आया-अरे नाथ! पंचमकाल में इस भरतक्षेत्र में आपका विछोह हुआ, सर्वज्ञता का विरह हुआ...इसप्रकार सर्वज्ञ के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हुआ, और वे चिंतवन करने लगे। वहां पुण्य का योग था और पात्रता भी विशेष थी, इससे सीमंधर भगवान के पास जाने का योग बना। अहा, भरतक्षेत्र का (जीव) मनुष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरसहित विदेहक्षेत्र गया, और भगवान से मिलाप हुआ। भगवान की दिव्यध्वनि साक्षात् श्रवण की और उन्होंने इस भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की धारा बहाई। इन्हें आराधक भाव का विशेष जोर और साथ में पुण्य का भी महान योग था। इन्होंने तो तीर्थंकर जैसा काम किया है।

आराधक का पुण्य लोकोत्तर होता है। तीर्थंकर के जीव को गर्भ में आने की छह महीने की देर हो, अभी तो वह जीव (श्रेणिक आदि कोई) नरक में हो अथवा स्वर्ग में हो, इधर तो इन्द्र-इन्द्राणी यहाँ आकर उनके माता-पिता का बहुमान करते हैं कि धन्य रत्नकूँखधारिणी माता! छह महीने पश्चात् आपकी कूँख में तीनलोक के नाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं!—ऐसा बहुमान करते हैं; और जहाँ उनका जन्म होनेवाला हो वहाँ प्रतिदिन करोड़ों रत्नों की वृष्टि करते हैं। छह मास पूर्व नरक में भी उस जीव को उपद्रव शांत होजाते हैं। तीर्थंकर-प्रकृति का उदय तो पीछे तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान होगा तब आवेगा, परन्तु उसके पहले उसके साथ ऐसा पुण्य होता है। (यहाँ उत्कृष्ट पुण्य की बात है; सभी आराधक जीवों को ऐसा पुण्य होता है—ऐसा नहीं, परन्तु तीर्थंकर होनेवाले जीव को ही ऐसा पुण्य होता है।) यह सब तो अचिंत्य बात है। आत्मा का स्वभाव भी अचिंत्य, और उसका जो आराधक हुआ उसका पुण्य भी अचिंत्य! ऐसी आत्मा के लक्ष्य से श्रावक-धर्मात्मा ज्ञानदान करता है, उसमें उसे राग का निषेध है और ज्ञान का आदर है, इसलिये वह केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होगा, तीनलोक के जीव उसका उत्सव मनावेंगे और उसकी दिव्यध्वनि से धर्म का निर्मल मार्ग चलेगा।

इसप्रकार ज्ञानदान का वर्णन किया।

"दुर्लभ है संसार में एक यथारथ ज्ञान"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[११]

अभयदान का वर्णन

धर्मी जीव सम्यग्दर्शनादि द्वारा जिसप्रकार अपने दुःख को दूर करने का उपाय करता है उसीप्रकार अन्य जीवों पर भी उसे करुणा के भाव आते हैं। जिसे जीवदया हो नहीं उसे सच्चा धर्म अथवा दान कहाँ से हो?....सच्चा अभयपना यह है कि जिससे भव-भ्रमण का भय दूर हो, आत्मा निर्भयरूप से सुख के मार्ग की ओर अग्रसर हो। अज्ञान ही सबसे बड़ा भय का कारण है। सम्यग्ज्ञान द्वारा ही वह भय दूर होकर अभयपना होता है; इसलिये जीवों को सम्यग्ज्ञान के मार्ग में लगाना सच्चा अभयदान है।

श्रावकधर्म के कथन में चार प्रकार के दानों का वर्णन चल रहा है; उसमें आहारदान, औषधदान तथा ज्ञानदान—इन तीन का वर्णन हुआ। अब चौथा अभयदान, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यदीयते प्राणिनां
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥

अतिशय करुणावान भव्य जीवों द्वारा समस्त प्राणियों को जो अभय देने में आता है वह अभयदान है। बाकी के तीन दान इस जीवदया के बिना निष्फल हैं। आहारदान से क्षुधा का दुख दूर होता है, औषधदान से रोग का भय दूर होता है और शास्त्रदान से अज्ञान का भय दूर होता है—इस प्रकार इन तीन दानों से भी जीवों को अभय ही देने में आता है; इसलिये सब दानों में अभयदान ही एक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मी जीव अपनी आत्मा में जिस प्रकार सम्यग्दर्शनादि द्वारा दुःख दूर करने का उपाय करता है उसी प्रकार अन्य जीवों के भी दुःख न हो, इनका दुःख मिटे ऐसे करुणा के भाव उसे होते हैं। जीवदया भी जिसे न हो उसका तो एक भी दान सच्चा नहीं होता। किसी जीव को मारने की अथवा दुःख देने की वृत्ति धर्मी को नहीं होती, सब जीवों के प्रति करुणा होती है। दुःखी जीवों के प्रति करुणापूर्वक पात्र अनुसार आहार, औषध अथवा ज्ञान आदि देकर उसका भय मिटाता है। देखो, ऐसे करुणा के परिणाम श्रावक को सहज ही होते हैं।

सच्चा अभयदान तो उसे कहते हैं कि जिससे भवभ्रमण का दुःख टले और आत्मा निर्भयरूप से सिद्ध के पन्थ की ओर अग्रसर हो। अज्ञान और मिथ्यात्व ही जीव के लिये सबसे बड़े भय ओर दुःख का कारण है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर वह भय दूर होकर आत्मा अभयपना प्राप्त करता है। इसलिये जीवों को सम्यग्ज्ञान के मार्ग में लगाना वह बड़ा अभयदान है। इसलिये भगवान को भी अभय-दाता (अभयदयाणम्) कहा जाता है।

भगवान् और सन्त कहते हैं कि हे जीव! तू अपने स्वरूप को पहचानकर निर्भय हो! शंका का नाम भय है; जिसको स्वरूप में शंका है उसे मरण आदि का भय कभी नहीं मिटता। सम्यग्दृष्टि जीव ही निःशंक होने से निर्भय है, उसे मरण आदि सात प्रकार के भय नहीं होते। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि—

सम्यक्त्ववन्त जीव निःशंकित उससे हैं निर्भय खरे,
और सप्त भय प्रविमुक्त हैं जिससे उस हेतु निःशंक हैं।

स्वरूप की भ्रान्ति दूर हुई वहाँ भय दूर हो गया। शरीर ही मैं नहीं मैं तो शाश्वत ज्ञानमय आत्मा हू, तब मेरा मरण कैसा? और मरण ही नहीं फिर मरण का भय कैसा? मिथ्यात्व में मरण का भय था, मिथ्यात्व दूर हुवा वहाँ मरणादि का भय मिटा। इसके अतिरिक्त रोगादि का अथवा सिंह-बाघ का भय थोड़े समय के लिये चाहे मिट जावे परन्तु जबतक यह भय न मिटे तबतक जीव को सच्चा सुख नहीं होता।—इस प्रकार ज्ञानी समझाते हैं कि हे भाई! तू तो ज्ञानस्वरूप है; इस देह का जन्म-मरण यह वास्तव में तेरा स्वरूप नहीं; अज्ञान से तूने देह को अपना मानकर उसमें सुख की कल्पना की है इससे तुझे रोग का, क्षुधा का, मरणादि का भय लगता है। परन्तु देह से भिन्न वज्र जैसा तेरा ज्ञानस्वरूप है वह निर्भय है, उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर में देखने से पर सम्बन्धी कोई भय तुझे नहीं रहेगा—इस प्रकार नित्य अभय-स्वरूप समझकर ज्ञानी सच्चा अभयदान देता है, उसमें सब दान समाविष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो जीव ऐसी समझने की योग्यतावाले न हों ऐसे दुःखी जीवों पर भी श्रावक करुणा करके जिस प्रकार उसका भय कम हो उस प्रकार उसे आहार, औषध आदि का दान देता है। अपनी आत्मा का भय दूर हुवा है और अन्य को अभय देने का शुभभाव आता है—ऐसी श्रावक की भूमिका है। अपना ही भय जिसने दूर नहीं किया वह अन्य का भय कहाँ से मिटावेगा? अज्ञानी को भी जो करुणा-भाव आता है, दान का भाव आता है उसमें उसे भी शुभभाव है, परन्तु ज्ञानी जैसा उत्तम प्रकार का भाव उसे नहीं होता।

देखो, कितने ही जीव असंयमी जीवों के प्रति दया-दान के परिणाम को पाप बताते हैं, यह तो अत्यन्त विपरीतता है। भूखे को कोई खिलावे, प्यासे को पानी पिलावे, दुष्काल हो, गायें घास के बिना मरती हों और कोई दयाभाव से उन्हें हरा घास खिलावे तो उससे कोई पाप नहीं; उसके दया के भाव हैं वे पुण्य के कारण हैं। जीव-दया के भाव में पाप बतावे उसे तो बहुत बड़ी विपरीतता है। धर्म वस्तु तो अभी पृथक् है, परन्तु इसे तो पुण्य और पाप के बीच का भी विवेक नहीं।

इसी प्रकार कोई जीव पंचेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करके उसमें धर्म मनाता है,—वह तो महान् पापी है। ऐसे हिंसामार्ग को जिज्ञासु कभी ठीक नहीं मानता। एक भी जीव को मारने का अथवा दुःखी करने का भाव धर्मी श्रावक को होता नहीं। अरे वीतरागमार्ग को साधने आया उसके परिणाम तो कितने कोमल हों! पद्मनंदी स्वामी तो कहते हैं कि—मेरे निमित्त से किसी प्राणी को दुःख न हो। किसी को मेरी निन्दा से अथवा मेरे दोष ग्रहण (देखना) करने से सन्तोष होता हो तो इस प्रकार भी वह सुखी होवे; किसी को इस देहनाश की इच्छा हो तो वह यह देह लेकर भी सुखी होवे।—अर्थात् हमारे निमित्त से किसी को भय न हो, दुःख न हो। अर्थात् हमें किसीके प्रति द्वेष अथवा क्रोध न हो...इस प्रकार स्वयं अपने वीतराग-भाव में रहना चाहता है। वहाँ तो चारित्रवंत मुनि की मुख्यता से बात है, उसमें गौणरूप से श्रावक भी आ जाता है, क्योंकि श्रावक को भी अपनी भूमिका अनुसार ऐसी ही भावना होती है। सामने का जीव स्वयं अपने गुण-दोष के कारण अभयपना प्राप्त करे अथवा न करे—यह वस्तु उसके आधीन है, परन्तु यहाँ ज्ञानी को अपने भाव में सब जीवों को अभय देने की वृत्ति है। हमारा कोई शत्रु नहीं, हम किसी के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के शत्रु नहीं—ऐसी भावना में ज्ञानी को अनन्तानुबंधी कषाय का पूर्ण अभाव है। तत्पश्चात् अन्य राग-द्वेष आदि की भी बहुत मंदता हो गई है; और श्रावक को तो (पंचम गुणस्थान में) इससे भी अधिक राग दूर हो गया है, और हिंसादि के परिणाम छूट गये हैं।—इस प्रकार श्रावक के देशव्रत का यह प्रकाशन है।

आत्मा का चिदानंद स्वभाव पूर्ण रागरहित है, उसे जिसने श्रद्धा में लिया है अथवा श्रद्धा में लेना चाहता है ऐसे जीव को राग की कितनी मंदता हो, देव-गुरु-धर्म की तरफ परिणाम किस प्रकार के हों, सर्वज्ञ की पहचान कैसी हो—इन सब भेदों का इस अधिकार में मुनिराज ने बहुत सरल वर्णन किया है। सभा में यह तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। महापुण्य हो तभी जैनधर्म का और सत्य श्रवण का ऐसा योग प्राप्त होता है; उसे समझने के लिये अन्तर में बहुत पात्रता होनी चाहिए। एक राग का कण भी जिसमें नहीं ऐसे स्वभाव का श्रवण करने में और उसे समझने की पात्रता में जो जीव आया उसे स्थूल अनीति का, तीव्र कषायों का, मांस-मद्य आदि अभक्ष्य के भक्षण का तथा कुदेव-कुगुरु-कुमार्ग के सेवन का तो त्याग होता ही है; और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का आदर, साधर्मी का प्रेम, परिणामों की कोमलता, विषयों की मीठास का त्याग, वैराग्य का रंग—ऐसी योग्यता होती है। ऐसी पात्रता बिना ऐसे ही तत्त्वज्ञान हो जाय-ऐसा नहीं। भरत चक्रवर्ती के छोटी छोटी उम्र के राजकुमार भी आत्मा के भान सहित राजपाट में थे, उनका अंतरंग जगत से उदास था। छोटे राजकुमार राजसभा में आकर दो घड़ी बैठते हैं वहाँ भरतजी राज-भंडार में से करोड़ों सोने की मोहरें उन्हें देने को कहते हैं, परन्तु छोटे से कुमार वैराग्य से कहते हैं-पिताजी! ये सोने की मोहरें राज-भंडार में ही रहने दो—हमें इनसे क्या करना है? हम तो मोक्षलक्ष्मी की साधना के लिये आये हैं, पैसा एकत्रित करने के लिये नहीं आये। पर के साथ हमारे सुख का संबंध नहीं, पर से निरपेक्ष हमारा सुख हमारी आत्मा में है—ऐसा दादाजी (ऋषभदेव भगवान) के प्रताप से हमने समझा है, और इसी सुख को साधना चाहते हैं।-देखो कितना वैराग्य! यह तो पात्रता समझने के लिये एक उदाहरण दिया। इसप्रकार धर्म की योग्यता वाले जीव को अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा आत्मस्वभाव का, देव-गुरु-धर्म का विशेष प्रेम होता है, और सम्यक्-भान सहित वह रागादि को दूर करता जाता है! उसमें बीच-बीच में दान के प्रकार देवपूजा आदि किसप्रकार के होते हैं यह बताया, अब उस दान का फल कहेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१२]

श्रावक को दान का फल

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता....सामने का जीव धर्म की आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आवे क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूप का निर्णय करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसके पश्चात् मुनिदशा की भावना होते हुए भी जो अभी महाव्रत अंगीकार नहीं कर सकता इसलिये श्रावकधर्मरूप देशव्रत का पालन करता है, ऐसे जीव को आहार-दान-औषधदान-शास्त्रदान-अभयदान—इन चार प्रकार के दान का भाव आता है उसका वर्णन किया; अब उस दान का फल बताते हैं—

आहारात्सुखितौषधादतितरां निरोगता जायते
शास्त्रात्पात्र निवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयात्दानतः
पर्यन्ते पुनरोन्नतोन्नतपद प्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥ १२ ॥

उत्तम आदि पात्रों को आहारदान देने से परभव में स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है; औषधिदान से अतिशय निरोगता और सुन्दर रूप मिलता है, शास्त्रदान से अत्यन्त अद्भुत पाण्डित्य होता है और अभयदान से जीव को इन सब गुणों का परिवार प्राप्त होता है; तथा क्रम-क्रम से ऊँची पदवी को प्राप्त कर वह मोक्ष प्राप्त करता है।

देखो, यह दान का फल! श्रावकधर्म के मूल में जो सम्यग्दर्शन है उसे लक्ष्य में रखकर यह बात समझनी है। सम्यक्त्व की भूमिका में दानादि शुभभावों से ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्कृष्ट पुण्य बंधता है कि इन्द्रपद, चक्रवर्ती पद आदि प्राप्त होता है; और उस पुण्य-फल में हेयबुद्धि है इसलिये वह राग को तोड़कर, वीतराग होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस अपेक्षा से उपचार करके दान के फल से आराधक जीव को मोक्ष की प्राप्ति कह दी। परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट न करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें रुक जावे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। दान के फलस्वरूप पुण्य से स्वर्ग के सुख, निरोग-रूपवान शरीर, चक्रवर्तीपद का वैभव आदि मिले उसमें ज्ञानी को कोई सुखबुद्धि नहीं, अन्तर के चैतन्यसुख को प्रतीति और अनुभव में लिया है, इसके अतिरिक्त अन्य कहीं पर उसे सुख नहीं भासता। दान के फल में किसी को ऐसी ऋद्धि प्रगट हो कि उसके शरीर के स्नान का पानी छींटते ही अन्य का रोग मिट जावे और मूर्छा दूर हो जावे। शास्त्रदान से ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है और आश्चर्यकारी बुद्धि प्रगटती है। देखो ना, ग्वाले के भव में शास्त्रदान देकर ज्ञान का बहुमान किया तो इस भव में कुन्दकुन्दाचार्यदेव को कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा! और कैसी लब्धि प्राप्त हुई! वे तो ज्ञान के अगाध सागर थे; तीर्थंकर भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि इस पंचम काल में उन्हें सुनने को मिली। मंगलाचरण के श्लोक में महावीर भगवान और गौतम गणधर के पीछे मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो कहकर तीसरा उनका नाम लिया जाता है। देव-गुरु-शास्त्र के अनादर से जीव को तीव्र पाप बँधता है, और देव-गुरु-शास्त्र के बहुमान से जीव को ज्ञानादि प्रगट होते हैं। जिस प्रकार अनाज के साथ घास तो सहज ही पकता है, परन्तु चतुर किसान घास के लिये बोनी नहीं करता, उसको दृष्टि तो अनाज ऊपर है। उसी प्रकार धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभ से ऊँचा पुण्य बंधता है और चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी सहज ही मिलती है, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता के साधन पर है, पुण्य अथवा उसके फल की वाञ्छा उसे नहीं। जिसे पुण्य के फल को वाञ्छा है ऐसे मिथ्यादृष्टि को तो ऊँचा पुण्य नहीं बंधता; चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी के योग्य पुण्य मिथ्यादर्शन की भूमिका में बंधता नहीं। सम्यग्दर्शन-रहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्र को आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फल में वह भोगभूमि में उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्ष की आयु होती है और दस प्रकार के कल्पवृक्ष इसे पुण्य का फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवों ने पूर्व में मुनियों को आहारदान दिया इससे भोगभूमि में जन्मे थे, और वहाँ मुनि के उपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव भगवान को आहारदान दिया उसकी महिमा तो प्रसिद्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

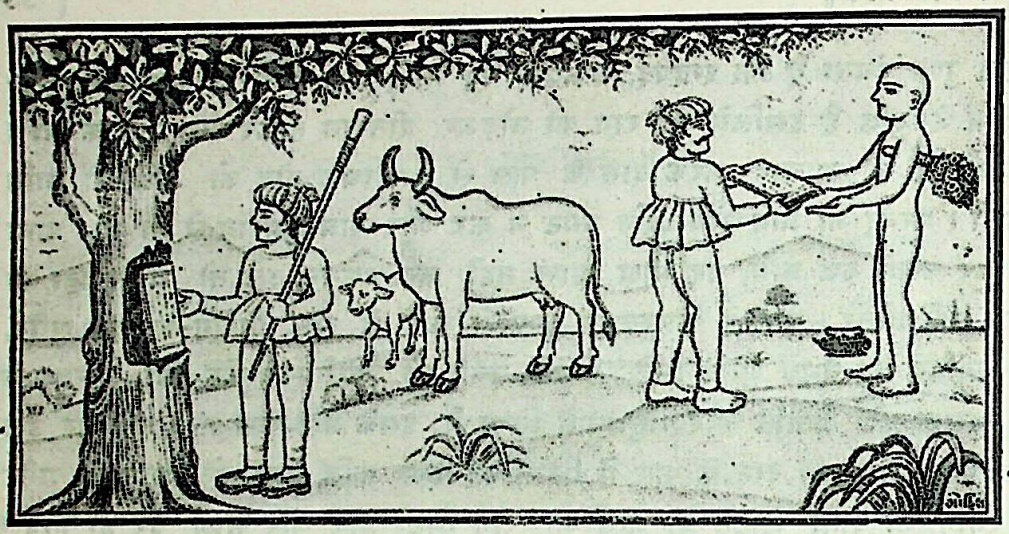

कुन्दकुन्द स्वामी का जीव पूर्व के ग्वाले के भव में ज्ञान के अचिंत्य बहुमानपूर्वक शास्त्रदान करता है। दूसरे भव में उन्हें सीमंधरनाथ की साक्षात् दिव्यवाणी सुनने का महाभाग्य मिलता है और वे श्रुत की महान प्रभावना करते हैं।

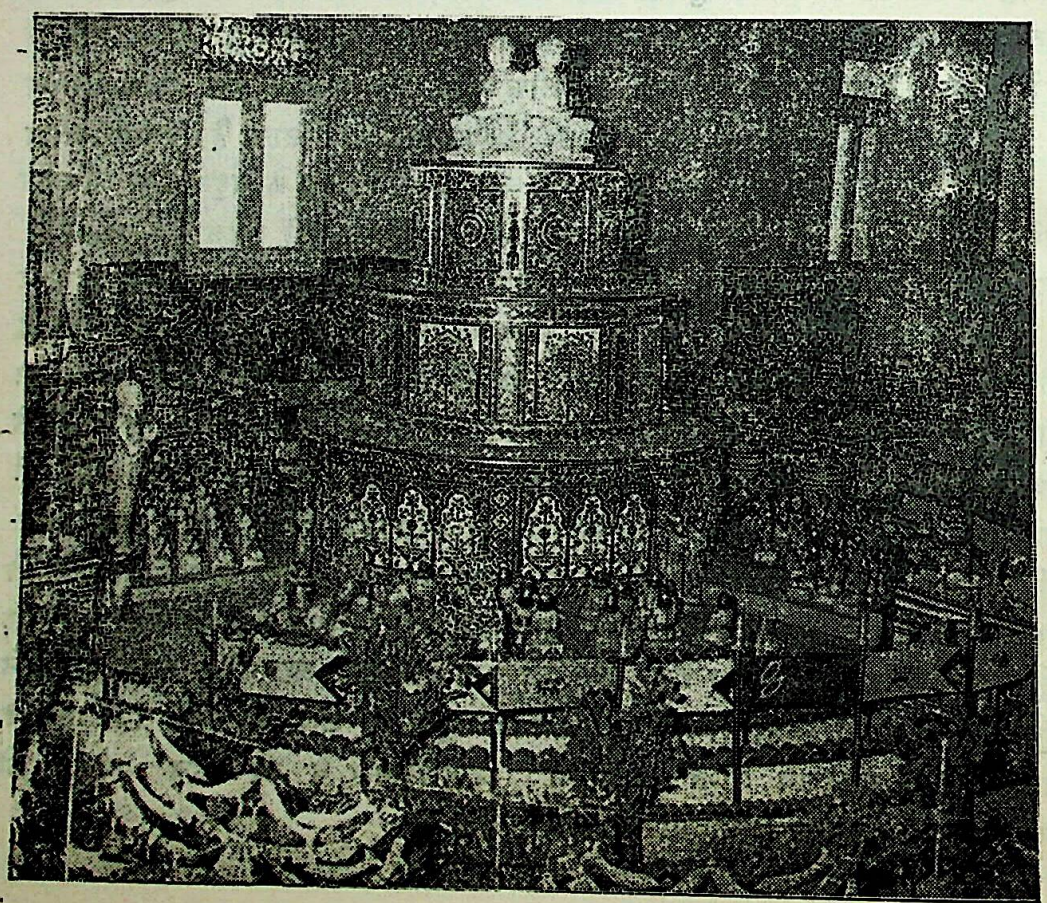

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार के भक्ति-पूजा-आहारदान आदि शुभभाव श्रावकों को होते हैं, ऐसी ही इसकी भूमिका है। दृष्टि में तो वर्तमान में ही उसने राग को हेय किया है अर्थात् दृष्टि के बल से अल्पकाल में ही चारित्र प्रगट कर, राग को सर्वथा दूर कर वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

सामनेवाला जीव धर्म की आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्ति का भाव उल्लसित होता है, क्योंकि स्वयं को उस आराधना का तीव्र प्रेम है। अर्थात् उसके प्रति भक्ति से (-मैं उस पर उपकार करता हूँ ऐसी बुद्धि से नहीं परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदि के भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने राग को घटाता है और आराधना की भावना को पुष्ट करता है। देखो, यह तो वीतरागी संतों ने वस्तुस्वरूप प्रगट किया है-वे अत्यन्त निःस्पृह थे, उन्हें कोई परिग्रह नहीं था, उन्हें जगत से कुछ लेना नहीं था। धर्मी जीव भी निःस्पृह होता है, उसे भी किसी से लेने की इच्छा नहीं। लेने की वृत्ति तो पाप है। धर्मी जीव तो दानादि द्वारा राग घटाना चाहता है। किसी धर्मी को विशेष पुण्य से बहुत वैभव भी हो, उससे उसे अधिक राग है—ऐसा नहीं। राग का माप संयोग से नहीं। यहाँ तो धर्म की निचली भूमिका में (श्रावकदशा में) धर्म कितना हो, राग कैसा हो और उसका फल क्या हो वह बताया है। वहाँ जितनी वीतरागता हुई है उतना धर्म है और उसका फल तो आत्मशांति का अनुभव है। स्वर्गादि वैभव मिले वह कोई वीतरागभावरूप धर्म का फल नहीं, वह तो राग का फल है। कोई जीव यहाँ ब्रह्मचर्य पाले और स्वर्ग में उसे अनेक देवियाँ मिलें,—तो क्या ब्रह्मचर्य के फल में देवियाँ मिलीं? नहीं, ब्रह्मचर्य में जितना राग दूर हुवा और वीतरागभाव हुवा उसका फल तो आत्मा में शान्ति है, परन्तु अभी वह पूर्ण वीतराग नहीं हुवा अर्थात् अनेक प्रकार के शुभ और अशुभ राग बाकी रह गये हैं; अभी धर्मी को जो शुभ राग बाकी रह गया है उसके फल में वह कहाँ जायेगा? क्या नरकादि हल्की गति में जावेगा? नहीं; वह तो देवलोक में ही जावेगा। अर्थात् देवलोक की प्राप्ति राग का फल है, धर्म का नहीं। यहाँ पुण्य का फल बताकर कोई उसकी लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटाने का उपदेश देते हैं। जिस प्रकार स्त्री, शरीर आदि के लिये अशुभ भाव से शक्ति अनुसार खर्च उत्साहपूर्वक करता है, वहाँ अन्य को यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। तो जिसे धर्म का प्रेम है वह जीव स्वप्रेरणा से, उत्साह से देव-गुरु-धर्म की भक्ति, पात्रदान आदि में बारम्बार अपनी लक्ष्मी का उपयोग करता है,—इसमें वह किसी के कहने की राह नहीं देखता। राग तो अपने लिये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घटाना है ना! किसी अन्य के लिये राग नहीं घटाना है। इसलिये धर्मी जीव चतुर्विध दान द्वारा अपने राग को घटावे ऐसा उपदेश है ॥ १२ ॥

अनेक प्रकार के आरम्भ और पाप से भरे हुए गृहस्थाश्रम में पाप से बचने के लिये दान मुख्य कार्य है; उसका उपदेश आगे की छह गाथाओं में करेंगे।

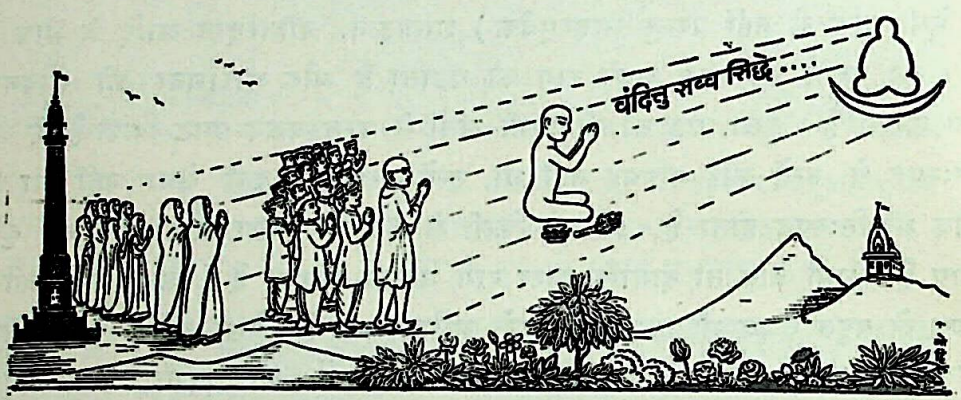

सम्यक्त्वादि रत्नत्रयगुण के धारक ऐसे गुणीजनों के प्रति धर्मी को प्रमोद होता है; उस रत्नत्रय को तथा उसके आराधक गुणीजनों को देखकर उसके अंतर में प्रेम-हर्ष-उत्साह और बहुमान उत्पन्न होता है, उसे वात्सल्य उल्लसित होता है। गुणीजनों के प्रति जिसे प्रमोद न आवे, तो समझो कि उस जीव को गुणों की महिमा की खबर नहीं, उसे अन्तर में गुण प्रगटे नहीं। अपने में जिसे गुण प्रगटे हों उसे वैसे गुण अन्य में देखकर प्रमोद आये बिना नहीं रहता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१३]

अनेक प्रकार पापोंसे बचनेके लिये गृहस्थ दान करे

अहा, जिसे सर्वज्ञ के धर्म की महिमा आई है, अन्तरदृष्टि से आत्मा के धर्म को जो साधता है, महिमापूर्वक वीतरागभाव में जो आगे बढ़ता है, और तीव्र राग घटने से जिसे श्रावकपना हुआ है—उस श्रावक के भाव कैसे हों उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची, और स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसे आत्मसुख अधिक—ऐसी श्रावकदशा है। वह श्रावक भी हमेशा दान करता है। मात्र लक्ष्मी की लोलुपता में, पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा का कोई जिज्ञासा न करे—ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता।

गृहस्थ को दान की प्रधानता का उपदेश देते हैं—

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेनयच्चार्जितम्।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धन प्रियोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गति ॥ १३ ॥

जीवों को पुत्र की अपेक्षा और अपने जीवन की अपेक्षा धन अधिक प्यारा है; पाप से भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके, समुद्र-पर्वत और पृथ्वी में भ्रमण करके तथा अनेक प्रकार के कष्ट से महा खेद भोगकर दुःख से जो धन प्राप्त करता है वह धन, जीवों को पुत्र की अपेक्षा और जीवन की अपेक्षा भी अधिक प्यारा है; ऐसे धन का उपयोग करने का शुभमार्ग एक दान ही है, इसके सिवाय धन खर्च करने का कोई उत्तम मार्ग नहीं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भव्य जीवो! तुम ऐसा दान करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखो तो, आजकल तो जीवों को पैसा कमाने के लिये कितना पाप और झूठ करना पड़ता है। समुद्रपार के देश में जाकर अनेक प्रकार के अपमान सहन करे, सरकार पैसा ले लेगी पैसा दिन-रात भयभीत रहा करे,—इस प्रकार पैसे के लिये कितना कष्ट सहन करता है और कितने पाप करता है? इसके लिये अपना बहुमूल्य जीवन भी नष्ट कर देता है, पुत्रादि का भी वियोग सहन करता है,—इस प्रकार वह जीवन की अपेक्षा और पुत्र की अपेक्षा धन को प्यारा गिनता है।—तो आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, ऐसा प्यारा धन, जिसके लिये तूने कितने पाप किये, उस धन का सच्चा-उत्तम उपयोग क्या? इसका विचार कर। स्त्री-पुत्र के लिये अथवा विषय-भोगों के लिये तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो उलटे तुझे पापबन्ध होगा। इसलिये लक्ष्मी की सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव-गुरु-धर्म की प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्रप्रचार, दान आदि उत्तम कार्यों में उसका उपयोग करना।

प्रश्नः—बच्चों के लिये कुछ न रखना?

उत्तरः—भाई, जो तेरा पुत्र सुपुत्र और पुण्यवंत होगा तो वह तुझसे सवाया धन प्राप्त करेगा; और जो वह पुत्र कुपुत्र होगा तो तेरी इकट्ठी की हुई सब लक्ष्मी को भोग-विलास में नष्ट कर देगा, और पापमार्ग में उपयोग करके तेरे धन को धूल कर डालेगा;—तो अब तुझे संचय किसके लिये करना है? पुत्र का नाम लेकर तुझे अपने लोभ का पोषण करना हो तो जुदी बात है! अन्यथा—

पूत सपूत तो क्यों धन संचय?
पूत कपूत तो क्यों धन संचय?

इसलिये, लोभादि पाप, के कुएँ में से तेरी आत्मा का रक्षण हो ऐसा कर; लक्ष्मी के रक्षण की ममता छोड़ और दानादि द्वारा तेरी तृष्णा को घटा। वीतरागी सन्तों को तो तेरे पास से कुछ नहीं चाहिये। परन्तु जिसे पूर्ण राग-रहित स्वभाव की रुचि उत्पन्न हुई, वीतरागस्वभाव की तरफ जिसका परिणमन लगा उसको राग घटे बिना नहीं रहता। कोई के कहने से नहीं परन्तु अपने सहज परिणाम से ही मुमुक्षु को राग घट जाता है।

इस संबंध में धर्मी गृहस्थ को कैसे विचार होते हैं? समन्तभद्रस्वामी रत्नकरंड-श्रावकाचार में कहते हैं कि—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्॥ २७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो पाप का आस्रव मुझे रुक गया है तो मुझे मेरे स्वरूप की सम्पदा प्राप्त होगी, वहाँ अन्य सम्पदा का मुझे क्या काम? और जो मुझे पाप का आस्रव हो रहा है तो ऐसी सम्पदा से मुझे क्या लाभ है? जिस सम्पदा को मिलने से पाप बढ़ता हो और स्वरूप की सम्पदा लुटती हो ऐसी सम्पदा किस काम की?—इस प्रकार दोनों तरह से सम्पदा का असारपना जानकर धर्मी उसका मोह छोड़ता है। जो मात्र लक्ष्मी की लोलुपता के पापभाव में जीवन बिता दे और आत्मा की कोई जिज्ञासा न करे ऐसा जीवन धर्मी का अथवा जिज्ञासु का नहीं होता। अहा, जिसे सर्वज्ञ की महिमा आयी है, अन्तरदृष्टि से आत्मा के स्वभाव को जो साधते हैं, महिमापूर्वक वीतराग मार्ग में जो आगे बढ़ते हैं, और तीव्र राग घटने से जिन्हें श्रावकपना प्रगट हुवा है—ऐसा श्रावक के भाव कैसे हों उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव की अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है, स्वर्ग के इन्द्र की अपेक्षा जिसका आत्मसुख अधिक है—ऐसी श्रावक दशा है। स्वभाव के सामर्थ्य का जिसे भान है, विभाव की विपरीतता समझता है और पर को पृथक् देखता है, ऐसा श्रावक राग के त्याग द्वारा अपने में क्षण क्षण शुद्धता का दान करता है और बाहर में अन्य को भी रत्नत्रय के निमित्तरूप शास्त्र आदि का दान करता है।

ऐसा मनुष्य-भव प्राप्त कर, आत्मा की जिज्ञासा कर उसके ज्ञान की कीमत आनी चाहिये, श्रावक को स्वाध्याय, दान आदि शुभभाव विशेषरूप से होते हैं। जिसे ज्ञान का रस हो, प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये नये शास्त्रों के स्वाध्याय करने से ज्ञान की निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। अपूर्व तत्त्व के श्रवण और स्वाध्याय करने से उसे ऐसा लगता है कि अहो, आज मेरा दिन सफल हुआ। छह प्रकार के अंतरंग तपों में ध्यान के पश्चात् दूसरा नंबर स्वाध्याय का कहा है।

श्रावक को सब पक्षों का विवेक होता है। स्वाध्याय आदि की तरह देवपूजा आदि कार्यों में भी वह भक्ति से वर्तता है। श्रावक को भगवान् सर्वज्ञदेव के प्रति परम प्रीति हो...अहो, यह तो इष्ट ध्येय है! इस प्रकार जीवन में वह भगवान को ही इच्छता है। चलते-फिरते प्रत्येक प्रसंग में उसे भगवान याद आते हैं। वह नदी के झरने का कल-कल आवाज सुनकर कहता है कि हे प्रभो! आपने पृथ्वी का त्याग कर दीक्षा ली इससे अनाथ हुई यह पृथ्वी कलरव करती विलाप करती है और उसके आँसुओं का यह प्रवाह है। वह आकाश में सूर्य-चन्द्र को देखकर कहता है कि प्रभो! आपने शुक्ल-ध्यान द्वारा घातिया कर्मों को जब भस्म किया तब उसके स्फुल्लिंग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकाश में उड़े, वे स्फुल्लिंग ही ये सूर्य-चन्द्र रूपमें उड़ते दिखाई दे रहे हैं।—और ध्यान-अग्नि में भस्म होकर उड़ते हुए कर्म के समूह इन वादलों के रूप में अभी भी जहाँ-तहाँ घूम रहे है।—ऐसी उपमाओं द्वारा श्रावक भगवान के शुक्ल-ध्यान को याद करता है और स्वयं भी उसकी भावना भाता है। ध्यान की अग्नि, और वैराग्य की हवा उससे अग्नि प्रज्वलित होकर कर्म भस्म हो गये, उसमें से सूर्य-चन्द्र रूपी स्फुलिंग उड़े। ध्यानस्थ भगवान के वाल हवा में फर फर उड़ते देखकर कहता है कि, ये वाल नहीं, ये तो भगवान के अंतर में ध्यान द्वारा जो कर्म जल रहे हैं उनका धुआँ उड़ रहा है।—इस प्रकार सर्वज्ञदेव को पहचानकर उनकी भक्ति का रंग लगाया है। उसके साथ गुरु की उपासना, शास्त्र का स्वाध्याय आदि भी होता है। शास्त्र तो कहते हैं कि अरे, कान द्वारा जिसने वीतरागी सिद्धान्त का श्रवण नहीं किया और मन में उसका चिंतवन नहीं किया, उसे कान और मन मिलना न मिलने के बराबर ही है। आत्मा की जिज्ञासा नहीं करे तो कान और मन दोनों गुमाकर एकेन्द्रिय में चला जायगा। कान की सफलता इसमें है कि धर्म का श्रवण करे, मन की सफलता इसमें है कि आत्मिक गुणों का चिंतवन करे, और धन की सफलता इसमें है कि सत्पात्र के दान में उसका उपयोग हो। भाई, अनेक प्रकार के पाप करके तूने धन इकट्ठा किया, तो अब परिणामों को पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बंधे।—इसका उपयोग तो धर्म के बहुमानपूर्वक सत्पात्रदान करना यही है।

लोगों को जीवन से और पुत्र से भी यह धन प्यारा होता है। परन्तु धर्मी श्रावक को धन की अपेक्षा धर्म प्यारा है। इसलिये धर्म के लिये धन खर्चने में इसे उल्लास आता है। इसलिये श्रावक के घर में अनेक प्रकार के दान के कार्य निरंतर चला करते हैं। धर्म और दानरहित घर को तो स्मशानतुल्य गिनकर कहते हैं कि ऐसे गृहवास को तो गहरे पानी में जाकर 'स्वा...हा' कर देना। जो एकमात्र पाप-बंध का ही कारण हो ऐसे गृहवास को तूँ तिलांजलि देना, पानी में डुबो देना। अरे, वीतरागी सन्त इस दान का गुंजार शब्द करते हैं...उसे सुनकर क्या भव्य जीवों के हृदयकमल न खिल उठें? किसे उत्साह नहीं आवे? भ्रमर के गुंजार शब्द से और चन्द्रमा के उदय से कमल की कली तो खिल उठती है, पत्थर नहीं खिलता है; उसी प्रकार इस उपदेशरूपी गुंजार शब्द को सुनकर धर्म की रुचिवाले जीव का हृदय तो खिल उठता है...कि वाह! देव-गुरु-धर्म की सेवा का अवसर आया...मेरा धन्य भाग्य...कि मुझे देव-गुरु-का काम मिला।-इस प्रकार उल्लसित होता है। शास्त्र में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहते हैं कि शक्ति-प्रमाण दान करना। तेरे पास एक रुपये की पूंजी हो तो उसमें से एक पैसा दान करना...परन्तु दान अवश्य करना, लोभ घटाने का अभ्यास अवश्य करना। लाखों-करोड़ों की पूँजी हो तभी दान दिया जा सके और ओछी पूंजी हो उसमें दान नहीं दिया जा सके-ऐसा कोई नहीं है। स्वयं के लोभ घटाने की बात है, इसमें कोई पूँजी की मात्रा देखना नहीं है। उत्तम श्रावक कमाई का चौथा भाग धर्म में खर्च करे, मध्यमपने छट्ठा भाग खर्च करे और कम से कम दसमांश खर्च करे—ऐसा उपदेश है। चन्द्रकान्त-मणि की सफलता कब? कि चन्द्रमा के संयोग से इसमें पानी झरने लगे तब; उसी प्रकार लक्ष्मी की सफलता कब? कि सत्पात्र के प्रति वह दान में खर्च हो तब। धर्मी को ऐसा भाव होता ही है, परन्तु इसके उदाहरण से अन्य जीवों को समझाते हैं।

संसार में लोभी जीव धनप्राप्ति के लिये कैसे-कैसे पाप करते हैं! लक्ष्मी तो पुण्यानुसार मिलती है परन्तु उसकी प्राप्ति के लिये बहुत से जीव झूठ-चोरी आदि अनेक प्रकार के पापभाव करते हैं। कदाचित् कोई जीव ऐसे भाव न करे और प्रमाणिकता से व्यापार करे तो भी लक्ष्मी प्राप्त करने का भाव तो पाप ही है। यह बताकर यहाँ ऐसा कहते हैं कि भाई, जिस लक्ष्मी के लिये तूँ इतने-इतने पाप करता है और जो लक्ष्मी पुत्रादि की अपेक्षा भी तुझे अधिक प्यारी है, उस लक्ष्मी का उत्तम उपयोग यही है कि सत्पात्रदान आदि धर्मकार्यों में उसे खर्च; सत्पात्रदान में खर्ची गई लक्ष्मी असंख्यगुणी होकर फलेगी। एक आदमी चार-पाँच हजार रु. के नये नोट लाया और घर आकर स्त्री को दिये, उस स्त्री ने उन्हें चूले के पास रख दिया और अन्य काम से जरा दूर चली गई। उसका छोटा लड़का पीछे सिगड़ी के पास बैठा था; सर्दी के दिन थे, लड़के ने नोट की गड्डी उठाकर सिगड़ी में डाल दी और अग्नि भड़क गई और वह तापने लगा...इतने में माँ आई, लड़का कहने लगा—माँ देख...मैंने सिगड़ी कैसी कर दी! देखते ही माँ समझ गई कि अरे, इसने तो पाँच हजार रुपयों की राख कर दी! उसे ऐसा क्रोध चढ़ा कि उसने लड़के को इतना अधिक मारा कि लड़का मर गया! देखो, पुत्र की अपेक्षा यह धन कितना प्यारा है!!

दूसरी एक घटना—एक ग्वालिन दूध बेचकर उसके तीन रुपये लेकर अपने गाँव जा रही थी, अकाल के दिन थे, रास्ते में लुटेरे मिले। बाई को डर लगा कि ये लोग मेरे रुपये छीन लेंगे, इसलिये वह तीन रुपये—कलदार पेट में निगल गई। परन्तु लुटेरों ने वह देख लिया और बाई को मारकर उसके पेट में से रुपये निकाल लिये। देखो, यह क्रूरता! ऐसे जीव दौड़कर नरक न जावें तो अन्य कहाँ जावें? ऐसे तीव्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाप के परिणाम तो जिज्ञासु को होते ही नहीं। बहुत से लोगों को तो लक्ष्मी कमाने की धुन में अच्छी तरह खाने का समय भी नहीं मिलता, देश छोड़कर अनार्य की तरह परदेश में जाता है, जहाँ भगवान के दर्शन भी न मिलें, सत्संग भी न मिले, अरे भाई! जिसके लिये तूने इतना किया उस लक्ष्मी का कुछ तो सदुपयोग कर। पचास-साठ वर्ष संसार की मजदूरी कर-करके मरने बैठा हो, मरते-मरते अन्त घड़ी में बच जाय और खटिया में से उठे तो भी और वही का वही पापकार्य में संलग्न हो जाय, परन्तु ऐसा नहीं विचारता की अरे, समस्त जिन्दगी धन कमाने में गवाँ दी और मुफ्त में पाप बाँधा, फिर भी यह धन तो कोई साथ चलने का नहीं, इसलिये अपने हाथ से ही राग घटाकर इसका कोई सदुपयोग करूँ; और जीवन में आत्मा का कुछ हित हो ऐसा उद्यम करूँ। देव-गुरु-धर्म का उत्साह, सत्पात्रदान, तीर्थयात्रा आदि में राग घटाकर और लक्ष्मी का उपयोग करेगा तो भी तुझे अन्तरंग में ऐसा सन्तोष होगा कि आत्मा के हित के लिये मैंने कुछ किया है। अन्यथा मात्र पाप में ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जावेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे, जीवन में आत्महित के लिये कुछ नहीं किया; और अशान्तरूप से देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा? इसलिये हे भाई! छठे से सातवें गुण-स्थान में झूलते मुनिराज ने करुणा करके तेरे हित के लिये इस श्रावकधर्म का उपदेश दिया है। तेरे पास चाहे जितने धन का समूह हो,—परन्तु उसमें से तेरा कितना? तू दान में खर्च करे उतना तेरा। राग घटाकर दानादि सत्कार्य में खर्च हो उतना ही धन सफल है। बारम्बार सत्पात्रदान के प्रसंग से, मुनिवरों—धर्मात्माओं आदि के प्रति बहुमान, विनय, भक्ति से तुझे धर्म के संस्कार बने रहेंगे, और ये संस्कार परभव में भी साथ चलेंगे।—लक्ष्मी कोई परभव में साथ नहीं चलती। इसलिये कहते हैं कि संसार के कार्यों में (विवाह, भोगोपभोग आदि में) तू लोभ करता हो तो भले कर, परन्तु धर्मकार्यों में तू लोभ मत करना, वहाँ तो उत्साहपूर्वक वर्तन करना। जो अपने को धर्मी श्रावक कहलवाता है परन्तु धर्म-प्रसंग में उत्साह तो आता नहीं, धर्म के लिये धन आदि का लोभ भी घटा नहीं सकता, तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह वास्तव में धर्मी नहीं परन्तु दंभी है, धर्मीपने का वह सिर्फ दंभ करता है। धर्म का जिसे वास्तव में रंग लगा हो उसे तो धर्म-प्रसंग में उत्साह आवे ही; और धर्म के निमित्तों में जितना धन खर्च हो उतना सफल है—ऐसा समझकर दान आदि में वह उत्साह से वर्तता है।

—इसप्रकार दान की बात की; यही बात अब विशेष प्रकार से कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१४]

गृहस्थपना दान से ही शोभता है

धर्म की प्रभावना आदि के लिये दान करने का प्रसंग आवे वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाता हुवा उदारता से उछल जाता है कि–अहो, ऐसे उत्तम कार्य के लिये जितना धन खर्च किया जावे उतना सफल है। जो धन अपने हित के लिये काम न आवे और बन्धन का ही कारण हो–वह धन किस काम का?–ऐसे धन से धनवानपना कौन कहे? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूवक धर्मकार्यों में अपनी लक्ष्मी खर्च करता है।

श्रावक के हमेशा के जो छह कर्तव्य हैं उनमें से दान का यह वर्णन चल रहा है—

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम् ॥ १४ ॥

धनवान मनुष्यों का गृहस्थपना दान द्वारा ही लाभदायक है, तथा दान द्वारा ही इसलोक और परलोक दोनों का उद्योत होता है; दानरहित गृहस्थपना तो दोनों लोकों का ध्वंस करनेवाला है। गृहस्थ को सैकड़ों प्रकार के दुर्व्यापार से जो पाप होता है उसका नाश दान द्वारा ही होता है और दान द्वारा चन्द्रसमान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इस प्रकार पाप का नाश और यश की प्राप्ति के लिये गृहस्थ को सत्पात्रदान के समान अन्य कुछ नहीं। इसलिये अपना हित चाहनेवाले गृहस्थों को दान द्वारा गृहस्थपना सफल करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव-गुरु-शास्त्र की तरफ के उल्लास के द्वारा संसार की ओर का उल्लास कम होता है तब वहाँ दानादि के शुभभाव आते हैं, इसलिये गृहस्थ को पाप घटाकर शुभ-भाव करना चाहिये-ऐसा उपदेश है। तू शुभभाव कर ऐसा उपदेश व्यवहार में होता है; परमार्थ से तो राग का कर्तृत्व आत्मा के स्वभाव में नहीं। राग के कण का भी कर्तृत्व माने अथवा उसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि है ऐसा शुद्धदृष्टि के वर्णन में आता है; ऐसी दृष्टिपूर्वक राग की बहुत मंदता धर्मी को होती है। रागरहित स्वभाव दृष्टि में ले और राग घटे नहीं ऐसा कैसे बने? यहाँ कहते हैं कि जिसे दानादि शुभभाव का भी पता नहीं, मात्र पापभाव में ही पड़ा है उसकी तो इस लोक में भी शोभा नहीं और परलोक में भी उसे उत्तम गति नहीं मिलती। पाप से बचने के लिये पात्रदान ही उत्तम मार्ग है। मुनिवरों को तो परिग्रह ही नहीं, उनको तो अशुभ परिणति छूट गई है और बहुत आत्मरमणता वर्तती है—उनकी तो क्या बात! यहाँ तो गृहस्थ के लिये उपदेश है। जिसमें अनेक प्रकार के पाप के प्रसंग हैं ऐसे गृहस्थपने में पाप से बचने के लिये पूजा-दान-स्वाध्याय आदि कर्तव्य हैं। तीव्र लोभी प्राणी को सम्बोधन करके कार्तिकेय स्वामी तो कहते हैं कि अरे जीव! यह लक्ष्मी चंचल है, इसकी ममता तू छोड़। तू तीव्र लोभ से अन्य के लिये (देव-गुरु-शास्त्र के शुभ कार्यों में) तो लक्ष्मी नहीं खर्चता, परन्तु तेरे देह के लिये तो खर्च! इतनी तो ममता घटा।—इस प्रकार भी लक्ष्मी की ममता घटाना सीखेगा तो कभी शुभ कार्यों में भी लोभ घटाने का प्रसंग आवेगा। यहाँ तो धर्म के निमित्तों के प्रति उल्लासभाव से जो दानादि होता है उसकी ही मुख्य बात है। जिसे धर्म का लक्ष्य नहीं और कुछ मंद राग से दानादि करे तो साधारण पुण्य बँधता है, परन्तु यहाँ तो धर्म के लक्ष्य सहित के पुण्य की मुख्यता है, अर्थात् अधिकार के प्रारम्भ में ही अरहन्तदेव की पहचान की है। शास्त्रमें तो जिस समय जो प्रकरण चलता हो उस समय उसका ही विस्तार से वर्णन होता है, ब्रह्मचर्य के समय ब्रह्मचर्य का वर्णन होता है, और दान के समय दान का वर्णन होता है; मूलभूत सिद्धान्त लक्ष्य में रखकर प्रत्येक कथन का भाव समझना चाहिये।

लोगों में तो जिसके पास अधिक धन हो उसे लोग धनवान कहते हैं; परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि जो लोभी है उसके पास चाहे जितना धन पड़ा हो तो भी वह धनवान नहीं परन्तु रंक है, क्योंकि जो धन उदारतापूर्वक सत्कार्य में खर्च करने के काम न आवे, अपने हित के लिये काम न आवे मात्र पापबन्ध का ही कारण हो वह धन किस काम का? और ऐसे धन से धनवानपना कौन माने? सच्चा धनवान तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह है कि जो उदारतापूर्वक अपनी लक्ष्मी को दान में खर्च करता हो। भले लक्ष्मी थोड़ी हो परन्तु जिसका हृदय उदार है वह धनवान है। और लक्ष्मी का ढेर होते हुए भी जिसका हृदय ओछा है—कंजूस है वह दरिद्री है। एक कहावत है कि—

रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं...
दाता छुपे नहीं घर माँगन आये....

जैसे युद्ध में तलवार चलाने का प्रसंग आवे वहाँ राजपूत की शूरवीरता छिपी नहीं रहती, वह घर के कोने में चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है, उसी प्रकार जहाँ दान का प्रसंग आता है वहाँ उदार हृदय के मनुष्य का हृदय छिपा नहीं रहता; धर्म के प्रसंग में प्रभावना आदि के लिये दान करने का प्रसंग आवे वहाँ धर्म के प्रेमी जीव का हृदय झनझनाहट करता उदारता से उछल जाता है; वह बचने का बहाना नहीं ढूँढ़ता, अथवा उसे बार-बार कहना नहीं पड़ता परन्तु अपने उत्साह से ही दान आदि करता है कि अहो, ऐसे उत्तम कार्य के लिये जितना दान करूँ उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्य में खर्च हो वह सफल है। इस-प्रकार श्रावक दान द्वारा अपने गृहस्थपने को शोभित करता है। शास्त्रकार अब इस बात का विशेष उपदेश देते हैं।

संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलता एकसाथ आ-पड़े, कहीं मार्ग न सूझे, उस समय उपाय क्या? उपाय एक ही कि—धैर्यपूर्वक ज्ञानभावना।

ज्ञानभावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्ट कर हितमार्ग सुझाती है, शांति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावक को भी "ज्ञानभावना" होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१५]

पात्रदान में उपयोग हो वही सच्चा धन है

देव-गुरु-धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से धर्म का संस्कार ताजा रहा करता है और धर्म की रुचि का बारम्बार घोलन होने से आगे बढ़ने का कारण होता है....जो जीव पापकार्य में तो उत्साह से धन खर्च करता है और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है उसे धर्म का सच्चा प्रेम नहीं, धर्म का प्रेमवाला गृहस्थ संसार की अपेक्षा विशेष उत्साह से धर्मकार्यों में वर्तता है।

गृहस्थ का जो धन पात्रदान में खर्च हो वही सफल है—ऐसा कहकर दान की प्रेरणा देते हैं—

पात्राणामुपयोगी यत्किल धनं तत्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनयतः तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥

जो धन सत्पात्र-दान के उपयोग में आता है उस धन को ही बुद्धिमान वास्तव में धन समझते हैं, क्योंकि सत्पात्र में खर्च किया हुआ धन परलोक में अनन्तगुना होकर के सुख देवेगा। परन्तु जो धन भोगादि पापकार्यों में खर्च होता है वह तो सहीरूप में नष्ट हो जाता है। इस प्रकार पात्रदान गृहस्थ को समस्त सम्पदा का उत्तमफल है ऐसा समझना।

देखो, ऐसा समझे उसके पापपरिणाम कितने कम हो जावें! और पुण्यपरिणाम कितने बढ़ जावें! और फिर भी धर्म तो इनसे भी भिन्न तीसरी ही वस्तु है। भाई, पाप और पुण्य के बीच में विवेक कर, कि संसार के भोगादि के लिये जो करूँ वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो मुझे पापबन्ध का कारण है; और धर्म-प्रसंग में, धर्मात्मा के बहुमान आदि के लिये जो करूँ वह पुण्य का कारण है, और उसके फलस्वरूप परलोक में ऐसी सम्पदा मिलेगी। परन्तु धर्मात्मा तो इस सम्पदा को भी छोड़कर, मुनि होकर, रागरहित ऐसे केवलज्ञान को साधकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस प्रकार तीनों का विवेक करके धर्मी जीव जहाँ तक मुनिदशा न हो सके वहाँ तक गृहस्थ अवस्था में पाप से बचकर दानादि शुभकार्यों में प्रवर्तता है।

श्री पद्मनन्दी स्वामी ने दान का विशेष रूप से अलग अधिकार भी वर्णन किया है। (उसके ऊपर भी अनेक बार प्रवचन हो गया है) भाई! स्त्री आदि के लिये तू जो धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ है, पुत्र-पुत्री के लग्न आदि में पागल होकर धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ है, मात्र व्यर्थ ही नहीं परन्तु उलटे पाप का कारण है। उसके बदले हे भाई! जिनमंदिर के लिये, वीतरागी शास्त्रों के लिये तथा धर्मात्मा-श्रावक-साधर्मी आदि सुपात्रों के लिये जो तेरी लक्ष्मी खर्च हो वह धन्य है! लक्ष्मी तो एक जड़ है, परन्तु उसके दान का जो भाव है वह धन्य है ऐसा समझना, क्योंकि सत्कार्य में जो लक्ष्मी खर्च हुई उसका फल अनन्तगुना आवेगा। इसकी दृष्टि में धर्म की प्रभावना का भाव है अर्थात् आराधकभाव से पुण्य का रस अनन्तगुना बढ़ जाता है। नव प्रकार के देव कहे हैं—पंच परमेष्ठी, जिनमंदिर, जिनबिम्ब, जिनवाणी और जिनधर्म,—इन नौ प्रकार के देवों के प्रति धर्मी को भक्ति का उल्लास आता है। जो जीव पापकार्यों में तो धन उत्साह से खर्च करता है और धर्मकार्यों में कंजूसी करता है, तो उस जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं; धर्म की अपेक्षा संसार का प्रेम उसे अधिक है। धर्म का प्रेमवाला गृहस्थ अपनी लक्ष्मी संसार की अपेक्षा अधिक उत्साह से धर्मकार्यों में खर्च करता है।

अरे, चैतन्य को साधने के लिये जहाँ सर्वसंगपरित्यागी मुनि होने की भावना हो, वहाँ लक्ष्मी का मोह न घटे यह कैसे बने? लक्ष्मी में, भोगों में अथवा शरीर में धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मीय सुख जिसने देखा है अर्थात् विशेष सुखों की तृष्णा जिसे नष्ट हो गई है।—जिसमें सुख नहीं उसकी भावना कौन करे? इस प्रकार धर्मात्मा के परिणाम अत्यन्त कोमल होते हैं, तीव्र पापभाव उसे होता नहीं। लोभियों के हेतु कौवे का उदाहरण शास्त्रकार ने दिया है। जली हुई रसोई की खुरचन मिले वहाँ कौवा काँव-काँव करता रहता है, वहाँ अलंकार से आचार्य बताते हैं कि अरे यह कौवा भी काँव-काँव करता हुवा अन्य कौवों को इकट्ठा करके खाता है, और तू? राग द्वारा तेरे गुण जले तब पुण्य बँधा और उसके फल में यह लक्ष्मी मिली,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तेरे गुण के जले हुए खुरचन को जो तू अकेला-अकेला खावे और साधर्मी-प्रेम वगैरह में उसका उपयोग न करे तो क्या कौवे से भी तू गया-बीता हो गया? अतः हे भाई, पात्रदान की महिमा जानकर तू तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग कर।

प्रद्युम्नकुमार ने पूर्वभव में औषधिदान किया था, उससे कामदेव जैसा रूप तथा अनेक ऋद्धियाँ मिली थीं; लक्ष्मण की पटरानी विशल्यादेवी ने पूर्वभव में एक अजगर को करुणाभाव से अभयदान किया उससे ऐसी ऋद्धि मिली थी कि उसके स्नान के पानी से लक्ष्मण आदि की मूर्च्छा उतर गई। वज्रजंघ और श्रीमती

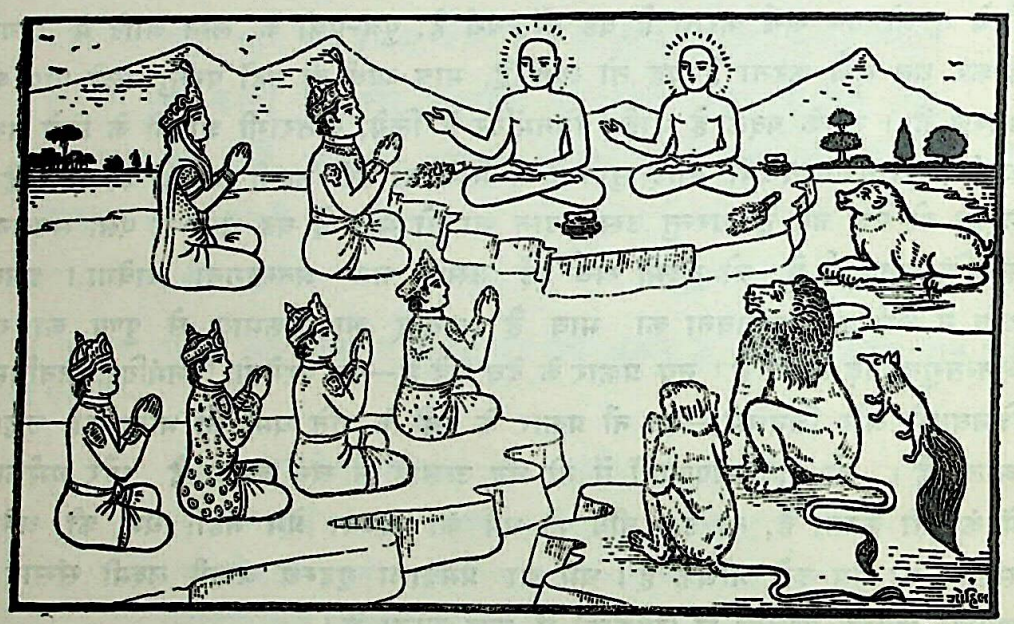

की कथा भी प्रसिद्ध है; वे आहारदान से भोगभूमि में उत्पन्न हुए और वहाँ मुनिराज के उपदेश से उन्होंने सम्यग्दर्शन पाया था; उनके आहारदान में अनुमोदन करने वाले चारों जीव (सिंह, बन्दर, नेवला और सूवर) भी भोगभूमि में उनके साथ ही जन्मे और सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सके। सम्यग्दर्शन कोई पूर्व के शुभराग का फल नहीं; परन्तु सम्यग्दर्शन हुवा इसलिये पूर्व के राग को परम्परा-कारण भी कहने में आता है, ऐसी उपचार की पद्धति है। देव-गुरु-धर्म के प्रसंग में बारम्बार दान करने से तेरे धर्म के संस्कार ताजे रहा करेंगे, और धर्म की रुचि का बारम्बार चिन्तन होने से तुझे आगे बढ़ने का कारण बनेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म के प्रेम सहित दानादि का जो भाव हुवा वह पूर्व में अनन्तकाल में नहीं हुवा इसलिये अपूर्व है, और उसके फल में जो शरीर आदि मिलेंगे वे भी अपूर्व हैं, क्योंकि आराधकभाव सहित पुण्य जिसमें निमित्त हो ऐसा शरीर भी पहले अज्ञान-दशा में कभी नहीं मिला था। जीव के भावों में अपूर्वता होने पर संयोगों में भी अपूर्वता हो गई। सत्पात्रदान के प्रसंग से अन्तर में स्वयं की धर्म की प्रीति पुष्ट होती है उसकी मुख्यता है; उसके साथ का राग और पुण्य भी जुदा प्रकार का होता है।—इसप्रकार दान का उत्तम फल जानना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१६]

पुण्यफल को छोड़कर धर्मीजीव मोक्ष को साधता है

प्रभो ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्मा के अचिन्त्य निधान को स्पष्टरूप से बताया, तो अब इस जगत् में ऐसा कौन है जो इस-के खातिर राजपाट के निधान को तृणसम समझकर न छोड़े ?— और चैतन्यनिधान को न साधे ? अहा, चैतन्य के आनन्दनिधान को जिसने देखा उसे राग के फलरूप बाह्य-वैभव तो तृणतुल्य लगता है।

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाऽभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निधानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥ १६ ॥

यह जीवन और धन दोनों अत्यंत क्षणभंगुर हैं—ऐसा जानकर चतुर पुरुषों को सदा शक्ति अनुसार दान करना चाहिये, क्योंकि मोक्ष का प्रथम कारण दान है। पूर्व में अनेक राजाओं ने याचक जनों को धन देकर, सब प्राणियों को अभय देकर और समस्त राज्य पुत्र को देकर सम्यक्तप द्वारा नित्य सुखास्पद मोक्ष पाया।

देखिये, यहाँ ऐसा बताते हैं कि दान के फल में धर्मी जीव को राज्य-सम्पदा वगैरह मिले उसमें वह सुख मानकर मूर्च्छित नहीं होता, परन्तु दानादि द्वारा उसका त्याग करके मुनि होकर मोक्ष को साधने चला जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In·Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिस प्रकार चतुर किसान बीज की रक्षा करके बाकी का अनाज भोगता है, और बीज बोता है उसके हजारोंगुने दाने पकते हैं, उसी प्रकार धर्मीजीव पुण्यफलरूप लक्ष्मी वगैरह वैभव का उपभोग धर्म की रक्षापूर्वक करता है, और दानादि सत्कार्यों में लगाता है, —जिससे उसका फल बढ़ता जाता है और भविष्य में तीर्थंकरदेव का समवसरण तथा गणधरादि संत-धर्मात्माओं का योग वगैरह धर्म के उत्तम निमित्त मिलते हैं, वहाँ आत्मस्वरूप को साधकर, बाह्यपरिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, केवलज्ञान-रूप अनन्त आत्मवैभव को प्राप्त करता है।

पुण्य के निषेध की भूमिका में (अर्थात् वीतरागभाव को साधते साधते) ज्ञानी को अनन्तगुना पुण्य बंधता है। पुण्य की रुचिवाले अज्ञानी को जो पुण्य बंधे उससे पुण्य का निषेध करनेवाले ज्ञानी की भूमिका में जो पुण्य बंधे वह अलौकिक होता है;—जिससे तीर्थंकर-पद मिले, चक्रवर्ती-पद मिले, बलदेव-पद मिले ऐसा पुण्य आराधक जीव को ही होता है, राग की रुचि वाले विराधक को ऐसा पुण्य नहीं बँधता। और उस पुण्य का फल आवे तब भी ज्ञानी उन संयोगों को अध्रुव—क्षणभंगुर बिजली जैसे चपल जानकर उनका त्याग करता है, और ध्रुव ऐसे सुखधाम आत्मा को साधने हेतु सर्वसंगत्यागी मुनि होता है और मोक्ष को साधता है। पहले से ही दान की भावना द्वारा राग घटाया था उससे आगे बढ़ते बढ़ते सर्वसंग छोड़कर मुनि होता है। परन्तु पहले से ही गृहस्थपने में दानादि द्वारा थोड़ा भी राग घटाते जिससे नहीं बनता, रागरहित स्वभाव क्या है वह लक्ष्य में भी नहीं लेता, वह सर्व राग को छोड़कर मुनिपना कहाँ से लेगा?—इस अपेक्षा से मोक्ष का प्रथम कारण दान कहा गया है।

ज्ञानी जानता है कि, एक तो लक्ष्मी इत्यादि बाह्यसंयोग में मेरा सुख जरा भी नहीं; फिर संयोग क्षणभंगुर है, और उसका आना-जाना तो पूर्व के पुण्य-पाप के आधीन है। पुण्य हो तो, दान में खर्च करने से लक्ष्मी समाप्त नहीं होती; और पुण्य समाप्त हो तो लाख उपाय द्वारा भी वह रहती नहीं।—ऐसा जानते हुये वह महापुरुष धन वगैरह छोड़कर मुनि होता है; और सर्व परिग्रह छोड़कर मुनिपना न लेते बने तबतक उसका उपयोग दानादि में करता है। इस प्रकार त्याग अथवा दान-ये दो ही लक्ष्मी के उपयोग के उत्तम मार्ग हैं। अज्ञानी तो परिग्रह में सुख मानने से उसको ममता करके उसे साथ में ही रखना चाहता है। "जितना बढ़े परिग्रह उतना बढ़े सुख"-ऐसी अज्ञानी की भ्रमणा है। ज्ञानी जानता है कि जितना परिग्रह छूटे उतना सुख है; मात्र बाह्यत्याग की बात नहीं; अंदर का मोह छूटे तब परिग्रह छूटा कहने में आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहा, चैतन्य का आनन्दनिधान जिसने देखा उसे राग का फलरूप बाह्य वैभव तो तृणतुल्य लगता है। ऋषभदेव भगवान की स्तुति में पद्मनंदी स्वामी कहते हैं कि अहो नाथ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्मा के अचिन्त्य निधान को स्पष्टरूप से बताया, तो अब इस जगत् में ऐसा कौन है कि इस निधान के खातिर राजपाट के निधान को तृणसमान समझकर न त्यागे?—और चैतन्यनिधान को न साधे! देखो तो, बाहुबली जैसे बलवान योद्धा राज-सम्पदा छोड़कर इस प्रकार चले गये कि पीछे फिरकर भी नहीं देखा कि राज्य का क्या हाल है! चैतन्य की साधना में अड़िगरूप से ऐसे लीन हुए कि खड़े खड़े ही केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया। शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जैसे चक्रवर्ती-तीर्थंकर वैसे ही भरतचक्रवर्ती, पाण्डव आदि महापुरुष भी क्षणमात्र में राज्य-वैभव छोड़कर मुनि हुए; अनेक जीवन में प्रारम्भ से ही भिन्नता की भावना का घोलन था। वे राग से और राज से पहले ही से अलिप्त थे इसलिये क्षणभर में ही जिसप्रकार सर्प काँचली उतारता है उसी प्रकार वे राज्य और राग दोनों को छोड़कर मुनि हुए और उन्होंने स्वरूप का साधन किया। अज्ञानी को तो साधारण परिग्रह की ममता छोड़नी भी कठिन पड़ती है। चक्रवर्ती की सम्पदा की तो क्या बात! परन्तु उन्होंने चैतन्यसुख के सामने उसे भी तुच्छ समझकर एक क्षण में छोड़ दी। इसलिये कवि कहते हैं कि—

छ्यानवे हजार नार छिनकमें दीनी छार,
अरे मन! ता निहार, काहे तू डरत है?
छहों खण्डको विभूति छांड़त न बेर कीन्हीं,
चमू चतुरंगन सों नेह न धरत है,
नौ निधान आदि जे चौदह रतन त्याग,
देह सेती नेह तोड़ वन विचरत है,
ऐसो विभौ त्यागत विलम्ब जिन कीन्हों नाहीं,
तेरे कहो केती निधि? सोच क्यों करत है!

अरे, लक्ष्मी और जीवन अत्यन्त ही अस्थिर है, उसका क्या भरोसा? लक्ष्मी का दूसरा नाम 'चपला' कहा है, क्योंकि वह इन्द्रधनुष जैसी चपल है—क्षणभंगुर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। लक्ष्मी कब चली जावेगी और जीवन कब समाप्त हो जावेगा इसका कोई भरोसा नहीं, कल का करोड़पति अथवा राजा-महाराजा आज भिखारी बन जाता है, आज का निरोगी दूसरे क्षण मर जाता है, सुबह जिसका राज्यअभिषेक हुआ संध्या समय उसकी ही चिता देखने में आती है। भाई, ये तो सब अध्रुव है, इसलिये ध्रुव चैतन्यस्वभाव को दृष्टि में लेकर इस लक्ष्मी आदि का मोह छोड़। धर्मी श्रावक अथवा जिज्ञासु गृहस्थ अपनी वस्तु में से शक्तिअनुसार याचकों को इच्छित दान देवें। दान योग्य वस्तु का होता है, अयोग्य वस्तु का दान नहीं होता। लौकिक कथाओं में आता है कि किसी राजा ने अपने शरीर का मांस काटकर दान में दिया अथवा अमुक भक्त ने अपने किसी एक पुत्र का मस्तक दान में दिया,—परन्तु यह वस्तु धर्म से विरुद्ध है, यह दान नहीं कहलाता, यह तो कुदान है। दान देनेवालों को भी योग्य-अयोग्य का विवेक होना चाहिये। जो कि आदरणीय धर्मात्मा आदि को आदरपूर्वक दान देवें, और अन्य दीनदुःखी जीवों को करुणाबुद्धि से दान देवें। धर्मी को ऐसी भावना होती है कि मेरे निमित्त से जगत में किसी प्राणी को दुःख न हो। सर्व प्राणियों के प्रति अहिंसाभाव-रूप अभयदान है। और शास्त्रदान आदि का वर्णन भी पूर्व में हो गया है।—ऐसे दान को मोक्ष का प्रथम कारण कहा गया है।

प्रश्नः—मोक्ष का मूल तो सम्यग्दर्शन है, तो यहाँ दान को मोक्ष का प्रथम कारण कैसे कहा?

उत्तरः—पहले प्रारम्भ में सर्वज्ञ की पहचान की बात की थी, उस सहित की यह बात है। उसी प्रकार श्रावक को प्रथम भूमिका में धर्म का उल्लास और दान का भाव अवश्य होता है उसे बताने के लिये व्यवहार से उसे मोक्ष का प्रथम कारण कहा है। इतना राग घटाना भी जिसे नहीं रुचे वह मोक्षमार्ग में कैसे आवेगा? वीतरागदृष्टिपूर्वक जितना राग घटा उतना मोक्षमार्ग है। पहले दानादि में राग घटाना सीखेगा तो आगे बढ़कर मुनिपना लेवेगा और मोक्षमार्ग को साधेगा। इस अपेक्षा से दान को मोक्ष का प्रथम कारण कहा है—ऐसा समझना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१७]

मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे

जैनधर्म का चरणानुयोग भी अलौकिक है। द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें ऐसा नहीं बनता। अध्यात्म की दृष्टि हो वहाँ देव-गुरु की भक्ति, दान, साधर्मी के प्रति वात्सल्य आदि भाव सहज आते ही हैं। श्रावक के अन्तर में मुनिदशा की प्रीति है अर्थात् हमेशा त्याग की ओर लक्ष रहा करता है, और मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसके रोम रोम उल्लसित हो जाते हैं। भाई! ऐसा मनुष्य-अवतार मिला है तो मोक्षमार्ग साधकर इसे सफल कर।

श्रावकधर्म का वर्णन सर्वज्ञ की पहचान से शुरू किया था, उसमें यह दान का प्रकरण चल रहा है। उसमें कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके जो मोक्ष का उद्यम नहीं करता अर्थात् मुनिपना भी नहीं लेता और दानादि श्रावकधर्म का भी पालन नहीं करता, वह तो मोहबंधन में बँधा हुवा है—

ये मोक्षंप्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठंति गृहे न दानमिह चेत् तन्मोहपाशो दृढः।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविध दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पति प्रतरणे पोतायते निश्चितं ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके भी जो कुबुद्धि जीव मोक्ष का उद्यम नहीं करता और गृहस्थपने में रहकर दान भी नहीं देता उसका गृहस्थपना तो दृढ़ मोह-पाश के समान है।—ऐसा समझकर गृहस्थ के लिये अपनी शक्ति अनुसार विविध प्रकार दान देना सदा कर्तव्य है, क्योंकि गृहस्थ को तो दान संसारसमुद्र से तिरने के लिये निश्चित् जहाज के समान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम तो ऐसे मनुष्यपने को पाकर मुनि होकर मोक्ष का साक्षात् उद्यम करना चाहिये। उतनी शक्ति न होवे तो गृहस्थपने में रहकर दान तो जरूर करना चाहिये। इतना भी जो नहीं करते और संसार के मात्र पाप में ही लगे रहते हैं वे तो तीव्र मोह के कारण संसार की दुर्गति में कष्ट उठाते हैं।—इससे बचने के लिये दान उत्तम जहाज के समान है। दान में देव-गुरु-शास्त्र के प्रसंग की मुख्यता है, जिससे उसमें धर्म का संस्कार बना रहे और राग घटता जावे। तथा आगे जाकर मुनिपना होकर वह मोक्षमार्ग को साध सके। श्रावक के अन्तःकरण में मुनिदशा की प्रीति है इसलिये हमेशा त्याग की ओर लक्ष रहा करता है; मुनिराज को देखते ही भक्ति से उसको रोम रोम पुलकित हो जाते हैं। मुनिपना की भावना की बातें करे और अभी राग थोड़ा भी घटाने का ठिकाना न हो, लोभादि असीम हो—ऐसे जीव को धर्म का सच्चा प्रेम नहीं। धर्मी जीव मुनि अथवा अर्जिका न हो सके तो भले ही गृहवास में रहता हो, परन्तु गृहवास में रहते हुये भी इसकी आत्मा में कितनी उदासीनता है!

अरे, यह मनुष्य अवतार मिला है, जैनधर्म का और सत्संग का ऐसा उत्तम योग मिला है तो आत्मा को साधकर मोक्षमार्ग द्वारा उसको सफल कर। जो संसार के मोह में ही जीवन बिताता है उसके बदले आन्तरिक प्रयत्न द्वारा आत्मा में से माल बाहर निकाल, आत्मा का वैभव प्रगट कर! चैतन्यनिधान के सामने जगत के अन्य सभी निधान तुच्छ हैं। अहा, संतों ने इस चैतन्यनिधान को स्पष्ट रूप से दिखा दिया; उसे जानकर, परिग्रह छोड़कर इस चैतन्य-खजाने को न लेवे ऐसा मूर्ख कौन है? चैतन्यनिधान को देखने के पश्चात् बाहर के मोह में लगा रहे ऐसा मूर्ख कौन है? करोड़ों रुपया देने पर भी जिस आयुष्य का एक समय भी बढ़ नहीं सकता ऐसे इस किंमती मनुष्य जीवन को जो व्यर्थ गमाते हैं और जन्म-मरण के अंत का उपाय नहीं करते वे दुर्बुद्धि हैं। भाई! इस आत्मा को साधने का अवसर है। तेरे खजाने में से जितना वैभव निकाले उतना निकले ऐसी बात है। अरे, इस अवसर को कौन खोवे? आनन्द का भंडार खुले तो आनन्द को कौन न लेवे, बड़े बड़े चक्रवर्तियों ने और अल्पायु राजकुमारों ने इस चैतन्य-खजाने को लेने हेतु बाहर के खजाने को छोड़-छोड़कर वन में गमन किया और अंतर में ध्यान करके सर्वज्ञपद के अचिन्त्य खजाने को खोला; उन्होंने जीवन सफल किया।

इसप्रकार धर्मात्मा तो आत्मा का आनन्द-खजाना कैसे बढ़े उसीमें ही उद्यमी हैं। जो दुर्बुद्धि जीव ऐसा उद्यम नहीं करता, तृष्णा की तीव्रता से परिग्रह ही इकट्ठा किया करता है उसका तो जीवन व्यर्थ है। दान के बिना गृहस्थ तो मोह की जाल में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फँसे हुए के समान है। जिस प्रकार रसना-इन्द्रिय की तीव्र लोलुपी मछली जाल में फँस जाती है और दुःखी होती है, उसी प्रकार तीव्र लोलुपी गृहस्थ मिथ्यात्व-मोह की जाल में फँसा रहता है और संसारभ्रमण में दुःखी होता है। ऐसे संसार से बचने हेतु दान नौकासमान है। अतः गृहस्थों को अपनी ऋद्धि के प्रमाण में दान करना चाहिये।

"ऋद्धि के प्रमाण में" का अर्थ क्या? लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति में से पाँच-दस रुपया खर्चे—वह कोई ऋद्धि के प्रमाण में नहीं कहा जा सकता। अथवा अन्य कोई करोड़पति ने पाँच हजार खर्च किये और मैं तो उससे कम सम्पत्ति वाला हूँ—अतः मुझे तो उससे कम खर्च करना चाहिये,—ऐसी तुलना न करे। मुझे तो मेरे राग घटाने हेतु करना है ना? उसमें दूसरे का क्या काम है?

प्रश्नः—हमारे पास ओछी सम्पत्ति होवे तो दान कहाँ से करें?

उत्तरः—भाई, विशेष सम्पति होवे तो ही दान होवे ऐसी कोई बात नहीं। और तू तेरे संसारकार्यों में तो खर्च करता है कि नहीं? तो धर्मकार्य में भी उल्लास-पूर्वक ओछी सम्पति में से तेरी शक्ति प्रमाण खर्च कर। दान के बिना गृहस्थपना निष्फल है। अरे, मोक्ष का उद्यम करने का यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा! मोक्ष हेतु तो सभी राग छोड़ने पर मुक्ति है; दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे जो नहीं बनता तो मोक्ष का उद्यम तू किस प्रकार करेगा? अहा, इस मनुष्यपने में आत्मा में रागरहित ज्ञानदशा प्रगट करने का प्रयत्न जो नहीं करता और प्रमाद से विषय-कषायों में ही जीवन बिताता है वह तो मूढ़बुद्धि मनुष्यपना खो देता है।—बाद में उसे पश्चाताप होता है कि अरे रे! मनुष्यपने में हमने कुछ नहीं किया! जिसे धर्म का प्रेम नहीं, जिस घर में धर्मात्मा के प्रति भक्ति के उल्लास से तन-मन-धन नहीं लगाया जाता वह वास्तव में घर ही नहीं है परन्तु मोह का पिंजरा है, संसार का जेलखाना है। धर्म की प्रभावना और दान द्वारा ही गृहस्थपने की सफलता है। मुनिपने में रहते हुए तीर्थंकर को अथवा अन्य महामुनियों को आहारदान देने पर रत्नवृष्टि होती है—ऐसी पात्रदान की महिमा है। एकबार आहारदान के प्रसंग में एक धर्मात्मा के यहाँ रत्नवृष्टि हुई, उसे देखकर किसी को ऐसा हुआ कि मैं भी दान देऊँ जिससे मेरे यहां भी रत्न बरसें।—ऐसी भावनासहित आहार-दान दिया, आहार देता जावे और आकाश की ओर देखता जावे कि अब मेरे आँगन में रत्न बरसेंगे; परन्तु कुछ नहीं बरसा।—देखिये इसे दान नहीं कहते; इसमें मूढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव के लोभ का पोषण है। धर्मी जीव दान देवे उसमें तो उसे गुणों के प्रति प्रमोद है और राग घटाने की भावना है। पहले मूर्खतावश कुदेव-कुगुरु पर जितना प्रेम था उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम यदि सच्चे देव-गुरु के प्रति न आवे तो उसने सच्चे देव-गुरु को वास्तव में पहचाना ही नहीं, माना नहीं, वह देव-गुरु का भक्त नहीं; उसे तो सत्तास्वरूप में कुलटा-स्त्री समान कहा है।

देखिये, इस जैनधर्म का चरणानुयोग भी कितना अलौकिक है! जैन श्रावक के आचरण किस प्रकार होवें उसकी यह बात है। राग की मन्दता के आचरण बिना जैन श्रावकपना नहीं बनता। एक राग के अंश का कर्तृत्व भी जिसकी दृष्टि में रहा नहीं ऐसे आचरण में भी राग कितना मंद पड़ जाता है! पहले जैसे ही राग-द्वेष किया करे तो समझना कि इसकी दृष्टि में कोई अपूर्वता नहीं आई, इसकी रुचि में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। रुचि और दृष्टि बदलते ही सारी परिणति में अपूर्वता आ जाती है; परिणाम की उथलपुथल हो जाती है। इसप्रकार द्रव्यानुयोग के अध्यात्म का और चरणानुयोग के परिणाम का मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें ऐसा नहीं बनता। देव-गुरु के प्रति भक्ति, दान वगैरह परिणाम की मन्दता का जिसका ठिकाना नहीं है उसे तो दृष्टि सुधारने का प्रसंग नहीं। जिज्ञासु की भूमिका में भी संसार की तरफ के परिणामों की अत्यंत ही मन्दता हो जाती है और धर्म का उत्साह बढ़ जाता है।

दानादि के शुभपरिणाम मोक्ष के कारण हैं—ऐसा चरणानुयोग में उपचार से कहा जाता है, परन्तु उसमें स्वसन्मुखता द्वारा जितने अंश राग का अभाव होता है उतने अंश मोक्ष का कारण जानकर दान को उपचार से मोक्ष का कारण कहा; इस-प्रकार परम्परा से वह मोक्ष का कारण होगा, परन्तु किसे? जो शुभराग में धर्म मानकर नहीं अटके उसे। परन्तु शुभराग को ही जो खरेखर मोक्ष कारण मानकर अटक जावेगा उसके लिये तो वह उपचार से भी मोक्षमार्ग नहीं। वीतरागी शास्त्रों का कोई भी उपदेश राग घटाने हेतु ही होता है, राग के पोषण हेतु नहीं होता।

अहो, जिसे अपनी आत्मा का संसार से उद्धार करना है उसे संसार से उद्धार करने का मार्ग बताने वाले देव-गुरु-धर्म के प्रति परम उल्लास आता है। जो भव से पार हो गये उनके प्रति उल्लास से राग घटाकर स्वयं भी भव से पार होने के मार्ग में आगे बढ़ता है। जो जीव संसार से पार होने का इच्छुक होवे उसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के प्रति प्रेम आता ही नहीं, क्योंकि उनके प्रति प्रेम तो संसार का ही कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रश्नः— सच्चे देव-गुरु के प्रति प्रेम करना भी तो राग ही है ना ?

उत्तरः— यह सत्य है, परन्तु सच्चे देव-गुरु की पहिचान सहित उनके तरफ का राग सवेरे की लालिमा जैसा है, उसके बाद थोड़े समय में ही वीतरागता से जगमगाता हुआ सूर्य उदय होगा। और कुदेव आदि का राग तो सन्ध्या की लालिमा जैसा है, उसके पश्चात् अन्धकार है अर्थात् संसारभ्रमण है।

जहाँ धर्म के प्रसंग में आपत्ति पड़े वहाँ तन-मन-धन अर्पण करने में धर्मी चूकता नहीं; उसे कहना नहीं पड़ता कि भाई ! तुम ऐसा करो ना ! परन्तु संघ पर, धर्म पर अथवा साधर्मी पर जहाँ आपत्ति प्रसंग आवे और आवश्यकता पड़े वहाँ धर्मात्मा अपनी सारी शक्ति के साथ तैयार ही रहता है। जिसप्रकार रण-संग्राम में राजपूत का शौर्य छिपता नहीं उसी प्रकार धर्म-प्रसंग में धर्मात्मा का उत्साह छिपा नहीं रहता। धर्मात्मा का धर्मप्रेम ऐसा है कि धर्मप्रसंग में उसका उत्साह छिपा नहीं रह सकता; धर्म की रक्षा खातिर अथवा प्रभावना खातिर सर्वस्व स्वाहा करने का प्रसंग आवे तो भी पीछे मुड़कर नहीं देखे। ऐसे धर्मोत्साहपूर्वक दानादि का भाव श्रावक को भव-समुद्र से पार होने हेतु जहाज समान है। अतः गृहस्थों को प्रतिदिन दान देना चाहिये।

—इस प्रकार दान का उपदेश दिया गया; अब जिनेन्द्रभगवान के दर्शन का विशेष उपदेश दिया जाता है।

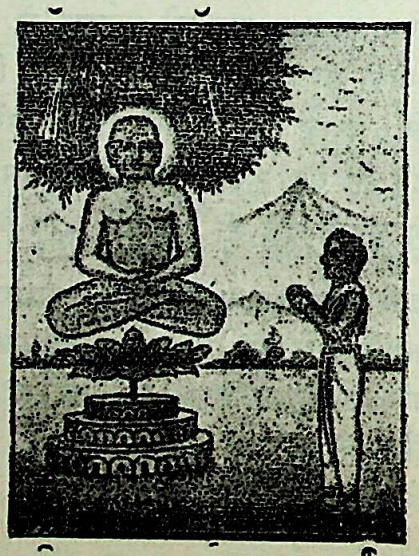

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१८]

जिनेन्द्र-दर्शन का भावभरा उपदेश

भगवान की प्रतिमा देखते हो 'अहो, ऐसे भगवान!' इस प्रकार एक वार भी जो सर्वज्ञदेव के यथार्थ स्वरूप को लक्षगत करले तो कहते हैं कि भव से तेरा वेड़ा पार है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा अपने इष्ट–ध्येय को स्मरण करके बाद में ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसी प्रकार स्वयं भोजन करने के पूर्व मुनिवरों को याद करे कि अहा, कोई सन्त–मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें और भक्ति-पूर्वक उन्हें भोजन करा करके पीछे मैं भोजन करूँ। देव-गुरु की भक्ति का ऐसा प्रवाह श्रावक के हृदय में वहना चाहिये। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान की याद नहीं आती, धर्मात्मा सन्त–मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धन्धा अथवा स्त्री आदि की याद आती है, तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस ओर जा रही है?

भगवान् सर्वज्ञदेव की श्रद्धापूर्वक धर्मी श्रावक को प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव के दर्शन, स्वाध्याय, दान आदि कार्य होते हैं उसका वर्णन चल रहा है; उसमें सातवीं गाथा से प्रारम्भ करके सत्रहवीं गाथा तक अनेक प्रकार से दान का उपदेश किया। जो जीव जिनेन्द्रदेव के दर्शन-पूजन नहीं करता तथा मुनिवरों को भक्तिपूर्वक दान नहीं देता उसका गृहस्थपना पत्थर की नौका के समान भव-समुद्र में डुबोनेवाला है —ऐसा अब कहते हैं—

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिः न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति यद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥ १८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामर्थ्य होते हुए भी जो गृहस्थ हमेशा परम भक्ति से जिननाथ के दर्शन नहीं करता, अर्चन नहीं करता और स्तवन नहीं करता, उसी प्रकार परम भक्ति से मुनिराजों को दान नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रमपद पत्थर की नाव के समान है; उस पत्थर की नौका के समान गृहस्थपद में स्थित हुवा वह जीव अत्यन्त भयंकर भवसागर में डूबता है और नष्ट होता है।

जिनेन्द्रदेव—सर्वज्ञपरमात्मा का दर्शन, पूजन उस श्रावक के हमेशा के कर्त्तव्य हैं। प्रतिदिन के छह कर्त्तव्यों में भी सबसे पहला कर्त्तव्य जिनदेव का दर्शन-पूजन है। प्रातःकाल भगवान के दर्शन द्वारा निज के ध्येयरूप इष्टपद को स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसी प्रकार स्वयं भोजन के पूर्व मुनिवरों को याद करके अहा, कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगन में पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् मैं भोजन करूँ।—इस प्रकार श्रावक के हृदय में देव-गुरु की भक्ति का प्रवाह बहना चाहिये। जिस घर में ऐसी देव-गुरु की भक्ति नहीं वह घर तो पत्थर की नौका के समान डूबनेवाला है। छठे अधिकार में (श्रावकाचार-उपासक-संस्कार गाथा ३५ में) भी कहा था कि दान बिना गृहस्थाश्रम पत्थर की नौका के समान है। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवान को याद नहीं आती, धर्मात्मा-संत-मुनि याद नहीं आते और संसार के अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री आदि की याद है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है?—संसार की तरफ कि धर्म की तरफ? आत्मप्रेमी हो उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

'हरतां फरतां प्रगट हरि देखुं रे....
मारुं जीव्युं सफळ तव लेखुं रे....'

पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' जिनप्रतिमा में जिनवरदेव की स्थापना है, उसपर से जिनवरदेव का स्वरूप जो पहचान लेता है, उसीप्रकार जिनप्रतिमा को जिनसमान ही देखता है उस जीव की भवस्थिति अति-अल्प होती है, अल्पकाल में वह मोक्ष प्राप्त करता है। 'षट्खण्डागम्' (भाग ६ पृष्ठ ४२७) में भी जिनेन्द्रदर्शन को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत और निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह भी नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहा है। इसकी रुचि में वीतरागी-सर्वज्ञस्वभाव प्रिय लगा है और संसार की रुचि इसे छूट गई है, अर्थात् निमित्त में भी ऐसे वीतराग निमित्त के प्रति उसे भक्तिभाव उछलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो परमभक्ति से जिनेन्द्र-भगवान का दर्शन नहीं करता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे वीतरागभाव नहीं रुचता, और तिरने का निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसार में डूबने का निमित्त रुचता है। जैसी रुचि होती है वैसे संबंधों की तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती। इसलिये कहते हैं कि वीतरागी जिनदेव को देखते ही जिसे अन्तर में भक्ति नहीं उल्लसती, जिसे पूजा-स्तुति का भाव नहीं उत्पन्न होता वह गृहस्थ समुद्र के बीच पत्थर की नाव में बैठा है। नियमसार में पद्मप्रभु मुनि कहते हैं कि— हे जीव !

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किं भक्तिरत्र न शमस्ति ?
तर्हि भवाम्बुधिमध्यग्राहमुखान्तर्गतो भवसि ॥ १२ ॥

भवभय को छेदन करने वाले ऐसे इन भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं ?— यदि नहीं तो तू भवसमुद्र के बीच मगर के मुख में है।

अरे, बड़े-बड़े मुनि भी जिनेन्द्रदेव के दर्शन और स्तुति करते हैं और तुझे जो ऐसा भाव नहीं आता और एकमात्र पाप में ही रचापचा रहता है तो तू भवसमुद्र में डूब जावेगा, भाई ! इसलिये तुझे इस भवदुःख के समुद्र में नहीं डूबना हो और इससे तिरना हो तो संसार के तरफ की तेरी रुचि बदलकर वीतरागी देव-गुरु तरफ तेरे परिणाम को लगा; वे धर्म का स्वरूप क्या कहते हैं उसे समझ, उनके कहे हुवे आत्मस्वरूप को रुचि में ले; तो भवसमुद्र में से तेरा छुटकारा होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान् की मूर्ति में 'यह भगवान हैं' ऐसा स्थापनानिक्षेप वास्तव में सम्यग्-दृष्टि को ही होता है; क्योंकि, सम्यग्दर्शनपूर्वक प्रमाणज्ञान होता है, प्रमाणपूर्वक सम्यक्नय होता है, और नय के द्वारा सच्चा निक्षेप होता है। निक्षेप नय बिना नहीं, नय प्रमाण बिना नहीं, और प्रमाण शुद्धात्मा की दृष्टि बिना नहीं। अहो, देखो तो सही, यह वस्तुस्वरूप! जैनदर्शन की एक ही धारा चली जा रही है। भगवान् की प्रतिमा देखते ही 'अहो, ऐसे भगवान!' ऐसा एक बार भी जो सर्वज्ञदेव का यथार्थ स्वरूप लक्षगत कर लिया, तो कहते हैं कि भव से तेरा बेड़ा पार है!

यहाँ एकमात्र दर्शन करने की बात नहीं की, परन्तु प्रथम तो 'परम भक्ति' से दर्शन करने को कहा है, उसी प्रकार अर्चन (पूजन) और स्तुति करने को भी कहा है। सच्ची पहिचान पूर्वक ही परम भक्ति उत्पन्न होती है, और सर्वज्ञदेव की सच्ची पहिचान हो वहाँ तो आत्मा का स्वभाव लक्षगत हो जाता है, अर्थात् उसे दीर्घसंसार नहीं रहता है। इस प्रकार भगवान् के दर्शन की बात में भी गहरा रहस्य है। मात्र ऊपर से मान ले कि, स्थानकवासी लोग मूर्ति को नहीं मानते और हम दिगम्बर जैन अर्थात् मूर्ति को मानने वाले,—ऐसे रूढ़िगत भाव से दर्शन करे, उसमें सच्चा लाभ नहीं होता, सर्वज्ञदेव की पहचान सहित दर्शन करे तो ही सच्चा लाभ होता है। (यह बात "सत्तास्वरूप" में बहुत विस्तार से समझाई है)

अरे भाई! तुझे आत्मा के तो दर्शन करना नहीं आता और आत्मा के स्वरूप को देखने हेतु दर्पणसमान ऐसे जिनेन्द्रदेव के दर्शन भी तू नहीं करता तो तू कहाँ जावेगा भैया! जिनेन्द्रभगवान के दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपने को जैन कहलावे, ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घर में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरु के दर्शन-पूजन होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओं को आदरपूर्वक दान दिया जाता है—वह घर धन्य है; और इसके बिना घर तो स्मशानतुल्य है। अरे, वीतरागी सन्त इससे अधिक क्या कहें? ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रम को तो हे भाई! समुद्र के गहरे पानी में तिलांजलि दे देना!—नहीं तो यह तुझे डुबो देगा!

धर्मी जीव प्रतिदिन जिनेन्द्रभगवान के दर्शनादि करते हैं। जिस प्रकार संसार का रागी जीव स्त्री-पुत्रादि के मुँह को अथवा चित्र को प्रेम से देखता है, उसी प्रकार धर्म का रागी जीव वीतराग-प्रतिमा का दर्शन भक्तिसहित करता है। राग की इतनी दशा बदलते भी जिससे नहीं बनती वह वीतरागमार्ग को किस प्रकार साधेगा? जिस प्रकार प्रिय पुत्र-पुत्री को न देखे तो माता को चैन नहीं पड़ता, अथवा माता को न देखे तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बालक को चैन नहीं पड़ता, उसी प्रकार भगवान के दर्शन बिना धर्मात्मा को चैन नहीं पड़ता। "अरे रे, आज मुझे परमात्मा के दर्शन न हुवे, आज मैंने मेरे भगवान को नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथ के दर्शन आज मुझे नहीं मिले!" इसप्रकार धर्मी को भगवान के दर्शन विना चैन नहीं पड़ता। (चेलना रानी को जिस प्रकार श्रेणिक के राज्य में पहले चैन नहीं पड़ता था; उसी प्रकार।) अन्तर में अपने धर्म की लगन है और पूर्णदशा की भावना है इसलिये पूर्णदशा को प्राप्त भगवान को मिलने हेतु धर्मी के अन्तर में तीव्र इच्छा आ गई है; साक्षात् तीर्थंकर के वियोग में उनकी वीतराग-प्रतिमा को भी जिनवर समान ही समझकर भक्ति से दर्शन-पूजन करता है, और वीतराग के प्रति बहुमान के कारण ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखने वालों के रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।—इसप्रकार जिनेन्द्रदेव के दर्शन, मुनिवरों की सेवा, शास्त्रस्वाध्याय दानादि में श्रावक प्रतिदिन लगा रहता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि शक्ति होने पर भी प्रतिदिन जो जिनदेव के दर्शन नहीं करता वह श्रावक ही नहीं; वह तो पत्थर की नौका में बैठकर भवसागर में डूबता है। तो फिर वीतराग-प्रतिमा के दर्शन-पूजन का जो निषेध करे उसकी तो बात ही क्या करना?—इसमें तो जिनमार्ग की अतिविराधना है। अरे, सर्वज्ञ को पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई वैसी परमात्मदशा का जिसे प्रेम होवे, उसे उनके दर्शन का उल्लास आये विना कैसे रहे? वह तो प्रतिदिन भगवान के दर्शन करके अपनी परमात्म-दशारूप ध्येय को प्रतिदिन ताजा रखता है।

भगवान के दर्शन की तरह मुनिवरों के प्रति भी धर्मी को परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे महान भी आदरपूर्वक भक्ति से मुनियों को आहारदान देते थे, और अपने आँगन में मुनि पधारें उस समय अपने को धन्य मानते थे। अहा! मोक्ष-मार्गी मुनि के दर्शन भी कहाँ!!—यह तो धन्यभाग्य और धन्य घड़ी! मुनि के विरह-काल में बड़े धर्मात्माओं के प्रति भी ऐसा बहुमान का भाव आता है कि अहो, धन्यभाग्य, मेरे आँगन में धर्मात्मा के चरण पड़े! ऐसे धर्म के उल्लास से धर्मी श्रावक मोक्षमार्ग को साधता है; और जिसे धर्म का ऐसा प्रेम नहीं वह संसार में डूबता है। कोई कहे कि मूर्ति तो पाषाण की है!—परन्तु भाई, इसमें ज्ञानबल से परमात्मा का निक्षेप किया है कि—"यह परमात्मा है।"—इस निक्षेप का इन्कार करना ज्ञान का ही इन्कार करने जैसा है। जिनबिम्ब-दर्शन को तो सम्यग्दर्शन का निमित्त गिना है, उस निमित्त का भी जो निषेध करे उसे सम्यग्दर्शन का भी ज्ञान नहीं। समन्तभद्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामी कहते हैं कि हमें तेरी स्तुति का व्यसन पड़ गया है। जिस प्रकार व्यसनी मनुष्य अपने व्यसन की वस्तु के बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार सर्वज्ञ के भक्तों को स्तुति का व्यसन है इसलिये भगवान की स्तुति-गुणगान बिना वे नहीं रह सकते। धर्मात्मा के हृदय में सर्वज्ञदेव के गुणगान चित्रित हो गये हैं। अहा, साक्षात् भगवान को देखना मिले—यह तो धन्य घड़ी है! कुन्दकुन्दाचार्य जैसों ने विदेह में जाकर सीमन्धरनाथ को साक्षात् देखा।—इनकी तो क्या बात! अभी तो यहाँ ऐसा काल नहीं। अरे तीर्थंकरों का विरह, केवलियों का विरह, महान संत-मुनियों का भी विरह—ऐसे काल में जिनप्रतिमा के दर्शन से भी धर्मी जीव भगवान के स्वरूप को याद करता है। इसी प्रकार वीतराग जिनमुद्रा को देखने की जिसे उमंग न हो वह जीव संसार की तीव्र रुचि को लेकर संसार-सागर में डूबने वाला है। वीतराग का भक्त तो वीतरागदेव का नाम सुनते ही और दर्शन करते ही प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सज्जन विनयवन्त पुत्र रोज सवेरे माता-पिता के पास जाकर विवेक से चरणस्पर्श करता है, उसी प्रकार धर्मी जीव प्रभु के पास जाकर बालक जैसा होकर, विनय से प्रतिदिन धर्मपिता जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करता है, उनकी स्तुति-पूजा करता है; मुनिवरों को भक्ति से आहारदान करता है। ऐसी वीतरागी देव-गुरु की भक्ति के बिना जीव मिथ्यात्व की नाव में बैठकर चार गति के समुद्र में डूबता है और बहुमूल्य मनुष्य-जीवन को नष्ट कर डालता है। अतः धर्म के प्रेमी जीव देव-गुरु की भक्ति के कार्यों में हमेशा अपने धन का और जीवन का सदुपयोग करें—ऐसा उपदेश है।

—इसप्रकार आचार्य जिनेन्द्रदेव के दर्शन का तथा दान का उपदेश देकर अब दाता की प्रशंसा करते हैं।

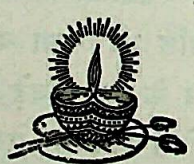

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[१९]

धर्मात्मा इस कलियुग के कल्पवृक्ष हैं

आचार्य कहते हैं कि पुण्यफलरूप चिन्तामणि आदि की महिमा हमें नहीं; हमें तो यह दाता ही उत्तम लगता है कि जो धर्म की आराधना सहित दान करता है....अपनी शक्ति होते हुए भी धर्मकार्य रुके ऐसा धर्मी जीव देख नहीं सकता।

धर्मात्मा-श्रावक दानादि द्वारा इस काल में कल्पवृक्ष आदि का कार्य करते हैं, ऐसा अब कहते हैं:—

चिन्तारत्न-सुरद्रु-कामसुरभि-स्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्,
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते.
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधत् दाता परं दृश्यते ॥ १९ ॥

जगत् में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु गाय और पारस-पत्थर परोपकार करने में प्रसिद्ध हैं, परन्तु यहाँ उपकार करते हुए उनको किसी ने नहीं देखा; उसी-प्रकार उन्होंने किसी को उपकृत नहीं किया और यहाँ उनकी संभावना भी प्रायः नहीं है। परन्तु दातार अकेला मनोवांछित दान से सदैव इस चिन्तामणि आदि का काम करते हुए देखने में आता है। अतः सच्चा दाता पुरुष ही उन चिन्तामणि आदि पदार्थों से उत्तम है।

धर्मात्मा के लिये परमार्थरूप से चिन्तामणि तो अपनी आत्मा है कि जिसके चिंतन से केवलज्ञान और सम्यग्दर्शन आदि निधान प्रगट होते हैं। इस चैतन्यचिन्तामणि के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने बाहर के चिन्तामणि आदि की वांछा ज्ञानी को नहीं है, जो भी पुण्य के फल में चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि वस्तुएँ होती हैं खरी,—इसके चिन्तवन से बाह्य सामग्री वस्त्र-भोजनादि मिलते हैं, परन्तु इसके पास से कोई धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादि नहीं मिलता है। चौथे काल में इस भरतभूमि में भी कल्पवृक्ष वगैरह थे, समवशरण में भी वे होते हैं, परन्तु आजकल लोगों के पुण्य घट गए हैं इसलिये वे वस्तुएँ यहाँ देखने में नहीं आती; परन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि ऐसे पुण्यफल की महिमा हमें नहीं, हमें तो वह दातार ही उत्तम लगता है कि जो धर्म की आराधना सहित दान करता है। दान के फल में कल्पवृक्ष आदि तो इसके पास सहजरूप में आवेंगे।

पारस का पत्थर लोहे में से सोना करता है—इसमें क्या! —इस चैतन्य-चिन्तामणि का स्पर्श होते ही आत्मा पामर में से परमात्म बन जाता है—ऐसा चिन्तामणि ज्ञानी के हाथ में आ गया है। वह धर्मात्मा अन्तर में राग घटाकर धर्म की वृद्धि करता है, और बाह्य में भी धर्म की वृद्धि कैसे हो, देव-गुरु की प्रभावना और महिमा कैसे बढ़े और धर्मात्मा-साधर्मी को धर्मसाधन में किसप्रकार अनुकूलता हो, ऐसी भावना से वह दानकार्य करता है। जब आवश्यकता हो तब और जितनी आवश्यकता हो उतना देने के लिये वह सदैव तैयार रहता है, इसलिये वह वास्तव में चिन्तामणि और कामधेनु है। दाता पारसमणि के समान है, क्योंकि उसके सम्पर्क में आनेवाले की दरिद्रता वह दूर करता है।

मेरुपर्वत के पास देवकुरु-उत्तरकुरु भोगभूमि है, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वे इच्छित सामग्री देते हैं; वहाँ जुगलिया जीव होते हैं और कल्पवृक्ष से अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। दान के फल में जीव वहाँ जन्म लेता है। यहाँ भी प्रथम-द्वितीय-तृतीय आरे में ऐसे कल्पवृक्ष थे, परन्तु वर्तमान में नहीं हैं; इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि ये कल्पवृक्ष आदि प्रसिद्ध होते हुवे भी वर्तमान में यहाँ तो वे किसी का उपकार करते देखने में नहीं आते। यहाँ तो दातार श्रावक ही इच्छित दान द्वारा उपकार करता देखने में आता है। चिन्तामणि आदि तो वर्तमान में श्रवणमात्र हैं दिखते नहीं, परन्तु चिन्तामणि की तरह उदारता से दान करनेवाला धर्मी—श्रावक तो वर्तमान में भी दिखाई पड़ता है।

देखो, नौ सौ वर्ष पूर्व पद्मनंदी मुनिराज ने यह रचा है; उस समय ऐसे श्रावक थे। ये पद्मनंदी मुनिराज महान संत थे; वनवासी दिगम्बर संतों ने सर्वज्ञ के वीतराग-मार्ग की यथार्थ प्रणाली को टिका रखा है। दिगम्बर मुनि तो जैनशासन के स्तंभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। इन पद्मनंदी मुनिराज ने इस शास्त्र में वैराग्य और भक्ति के उपदेश की रेलमछेल की है, उसीप्रकार निश्चयपंचाशत आदि अधिकारों में शुद्धात्मा के अध्यात्मस्वरूप का अध्ययन किया है। कुन्दकुन्दस्वामी का दूसरा नाम "पद्मनंदी स्वामी" था। परन्तु वे ये पद्मनंदी नहीं थे, ये पद्मनंदी मुनि तो उनके पीछे लगभग हजार वर्ष बाद हुए। वे कहते हैं कि दान करनेवाला उत्तम श्रावक धर्मात्मा चिन्तामणि समान है।

संघ में जरूर पड़े अथवा जिनमंदिर नया-बड़ा कराना है।
तो श्रावक कहता है 'कितना खर्च?' कि सवा लाख रुपया।
वह तुरन्त कहता है—यह लो, और उत्तम मन्दिर बनवाओ।

इसप्रकार उदारता से दान देने वाले धर्मात्मा थे। इसके लिये घर घर जाकर चंदा नहीं करना पड़ता था। अपनी शक्ति होते हुए भी धर्म का कार्य रुके वह धर्मी जीव नहीं देख सकता। इसलिये कहते हैं कि धर्मात्मा श्रावक ही उदारता से मनोवांछित दान देने वाला चिन्तामणि—कल्पवृक्ष और कामधेनु है,—जब आवश्यकता पड़े तब देवे। आवश्यकता पड़ने पर दान नहीं देवे तो वह दातार कैसा? धर्मप्रसंग में आवश्यकता पड़ने पर दाता छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार देश के लिये भामाशाहने (वह जैन था) अपनी सम्पूर्ण संपत्ति महाराणा प्रताप के पास रख दी, उसीप्रकार धर्मी जीव धर्म के लिये जरूरत पड़ने पर अपना सर्वस्व अर्पण कर दे। दाता को चिन्तामणि आदि से भी दान प्रिय है; क्योंकि चिन्तामणि आदि वस्तुएँ जो उपकार करती हैं वह भी पूर्व में सत्पात्रदान से जो पुण्य बंधा उसके कारण से है; इसलिये वास्तव में दाता में ही यह सब समा जाता है—इसप्रकार दाता की प्रशंसा की गई। अब जहाँ धर्मात्मा श्रावक रहते हों वहाँ अनेक प्रकार से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है—यह बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२०]

धर्मी-श्रावकों द्वारा धर्म का प्रवर्तन

गुणवान श्रावकों द्वारा धर्म की प्रवृत्ति चला करती है इसलिये वे श्रावक प्रशंसनीय हैं। श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि अर्पण करके भी धर्म की प्रभावना किया करते हैं। सन्तों के हृदय में धम की प्रभावना का भाव होता है; धर्म की शोभा के लिये धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय लगा देते हैं, ऐसी धर्म को लगन उनके अंतर में होती है।

जहाँ धर्मी श्रावक निवास करता हो वहाँ धर्म की कैसी प्रवृत्ति चलती है वह बताते हैं—

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैः वर्तते ।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥ २० ॥

जहाँ ऐसे धर्मात्मा श्रावकजन निवास करते हों वहाँ चैत्यालय-जिनमन्दिर होता है, और जिनमन्दिर हो वहाँ मुनि आदि धर्मात्मा आते हैं और वहाँ धर्म की प्रवृत्ति चलती है। धर्म द्वारा पूर्व संचित पापों का नाश होता है और स्वर्ग-मोक्ष के सुख की प्राप्ति होती है। इसप्रकार धर्म की प्रवृत्ति का कारण होने से गुणवान पुरुषों द्वारा श्रावक इष्ट है-आदरणीय है-प्रशंसनीय है।

श्रावक जहाँ निवास करता हो वहाँ दर्शन-पूजन के लिये जिनमन्दिर बनवाता है। अनेक मुनि आदि विहार करते करते जहाँ जिनमन्दिर होता है वहाँ आते हैं, और उनके उपदेश आदि से धर्म की प्रवृत्ति चला करती है, और स्वर्ग-मोक्ष का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधन होता है। श्रावक हो वहाँ ही यह सब होता है। इसलिये भव्य जीवों को ऐसे उत्तम श्रावक का आदर-सत्कार करना चाहिये। 'संमताः' अर्थात् कि वह इष्ट है, धर्मात्माओं को मान्य है, प्रशंसनीय है।

देखिये, जहाँ श्रावक रहते हों वहाँ जिनमंदिर तो होना ही चाहिये। थोड़े श्रावक हों और छोटा गाँव हो तो दर्शन-पूजन हेतु चाहे छोटा-सा ही चैत्यालय पहिले बनवावे। पूर्वकाल में कई श्रावकों के घर में ही चैत्यालय स्थापित करते थे। देखिये न, मूड़बिद्री (दक्षिण देश) में रत्नों की कैसी जिन-प्रतिमाएँ हैं? ऐसे जिनदेव के दर्शन से तथा मुनि आदि के उपदेश श्रवण से पहिले के बँधे हुए पाप क्षण में छूट जाते हैं। पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामों में वीतरागी जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावक को चले ही नहीं। दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है। जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो वह गाँव तो स्मशानतुल्य कहा गया है। अतः जहाँ जहाँ श्रावक होते हैं वहाँ जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकार के उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है; और इसके द्वारा पाप का नाश तथा स्वर्ग-मोक्ष का साधन होता है। जिनबिम्ब-दर्शन से निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्म के भी सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं ऐसा उल्लेख सिद्धान्त में है; धर्म की रुचिसहित की यह बात है। 'अहो, यह मेरे ज्ञायक-स्वरूप का प्रतिबिम्ब! ऐसे भाव से दर्शन करने पर, सम्यग्दर्शन न हो तो नया सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और अनादि के पापों का नाश हो जाता है, मोक्षमार्ग खुल जाता है। गृहस्थ-श्रावकों द्वारा ऐसे जिनमन्दिर की और धर्म की प्रवृत्ति होती है, अतः आचार्यदेव कहते हैं कि वे श्रावक धन्य हैं! गृहस्थावस्था में रहने वाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्म की ऐसी प्रभावना करती है; वह श्राविका-धर्मात्मा भी जगत् के जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न, चेलनारानी ने जैनधर्म की कितनी प्रभावना की? इस प्रकार गृहस्थावस्था में रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्यौछावर करके भी धर्म की प्रभावना करते रहते हैं। सन्तों के हृदय में धर्म की प्रभावना के भाव रहते हैं, धर्म की शोभा हेतु धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय भी अर्पण कर देते हैं ऐसी धर्म की तीव्र लगन इनके हृदय में होती है। ऐसे श्रावकधर्म का यहाँ पद्मनन्दी स्वामी ने इस अधिकार में प्रकाश किया है—उद्योत किया है। इसका विस्तार और प्रचार करने जैसा है, अतः अपने प्रवचन में यह अधिकार तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। (इस पुस्तक में तीनों बार के प्रवचनों का संकलन है।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखिये, इस श्रावकधर्म में भूमिका अनुसार आत्मा की शुद्धि तो साथ ही वर्तती है। पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक उत्तम देवगति सिवाय अन्य किसी गति में जाता नहीं—यह नियम है। स्वर्ग में जाकर वहाँ भी वह जिनेन्द्रदेव की भक्ति-पूजन करता है। छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते संत प्रमोद से कहते हैं कि अहो! स्वर्ग-मोक्ष की प्रवृत्ति का कारणरूप वह धर्मात्मा श्रावक हमें सम्मत है, गुणीजनों द्वारा आदरणीय है।

श्रावक अकेला हो तो भी अपनी शक्तिअनुसार दर्शनहेतु जिनमंदिर आदि बनवावे। जिस प्रकार पुत्र-पुत्री के विवाह में अपनी शक्तिअनुसार धन उमंगपूर्वक खर्च करता है, वहाँ अन्य के पास चंदा कराने के लिए जाता नहीं, उसी प्रकार धर्मी जीव जिनमंदिर आदि हेतु अपनी शक्तिअनुसार धन खर्च करता है। अपने पास शक्ति होते हुए भी धन न खरचे और अन्य के पास माँगने जाय—यह शोभा नहीं देता है। जिनमंदिर तो धर्म की प्रवृत्ति का मुख्य स्थान है। मुनि भी वहाँ दर्शन करने आते हैं। गाँव में कोई धर्मात्मा का आगमन हो तो वह भी जिनमंदिर तो जरूर जाता है। उत्तमकाल में तो ऐसा होता था कि मुनिवर आकाश में गमन करते समय नीचे मंदिर देखकर दर्शन करने आते थे, और महान् धर्मप्रभावना होती थी। अहो, ऐसे वीतरागी मुनि का वर्तमान में तो दर्शन होना कठिन है।

वन में विचरण करने वाले सिंह जैसे मुनिवरों के दर्शन तो बहुत दुर्लभ हैं; परन्तु धर्म की प्रवृत्ति धर्मात्मा श्रावकों द्वारा चला करती है इसलिये ऐसे श्रावक प्रशंसनीय हैं।

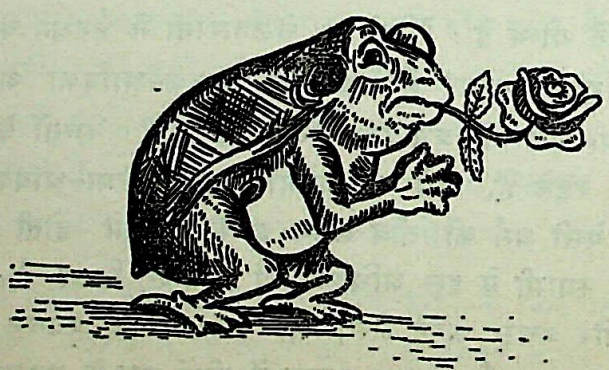

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२१]

जिनेन्द्र-भक्तिवंत श्रावक धन्य है !

श्रावक प्रगाढ़ जिनभक्ति से जैनधर्म को शोभित करता है। शांत दशा प्राप्त धर्मी जीव किसप्रकार के होते हैं और वीतरागी देव-गुरु के प्रति उनकी भक्ति का उल्लास कसा होता है उसका भी जीवों को ज्ञान नहीं। इन्द्र जैसे भी भगवान के प्रति भक्ति से कहते हैं कि हे नाथ! इस वैभव-विलास में रहा हुवा हमारा यह जीवन कोई जीवन नहीं, सच्चा जीवन तो आपका है.....केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द-मय जीवन से आप ही जी रहे है।

卐

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामायिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम् ॥ २१ ॥

इस दुःखमा काल में जब कि जिनेन्द्र भगवान् का धर्म क्षीण होता जाता है, जैनधर्म के आराधक धर्मात्मा-जीव भी बहुत थोड़े हैं और मिथ्यात्व-अंधकार बहुत फैल रहा है, जिनमंदिर और जिन-प्रतिमा के प्रति भक्तिवन्त जीव भी बहुत नहीं दिखते; ऐसे इस काल में जो जीव विधिपूर्वक जिनमन्दिर तथा जिन-प्रतिमा कराते हैं वे भव्य जीव सज्जनों द्वारा वंदनीय हैं।

जहाँ तीर्थंकर भगवान बिराजते हैं वहाँ तो धर्म की अविरत धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्म की आराधना करते हैं। परन्तु वर्तमान में तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया है। तीर्थंकरों का विरह, मुनिवरों की भी दुर्लभता, विपरीत मान्यता के पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गों का अन्त नहीं,—ऐसी विषमता के समूह के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बीच में भी जो जीव धर्म के प्रेम को स्थिर रखकर भक्ति से जिनमंदिर आदि बनवाते हैं वे धन्य हैं। स्तवन में भी आता है कि—

चैत्यालय जो करें धन्य सो श्रावक कहिये,
तामें प्रतिमा धरें धन्य सो भी सरदहिये.

पूर्व में तो भरत चक्रवर्ती सरीखे ने भी कैलास पर्वत पर तीन चौबीसी तीर्थंकरों के रत्नमय जिनबिम्बों की स्थापना की थी। दूसरे भी अनेक बड़े-बड़े राजा-महाराजा और धर्मात्माओं ने विशाल जिनमंदिर बनवाये थे। देखो तो, मूड़विद्री में "त्रिभुवन-तिलक चूड़ामणि" जिनमन्दिर कितना बड़ा है! जिसके एक हजार तो स्तंभ हैं। और महामूल्य रत्नों की ३५ मूर्तियाँ भी वहाँ हैं, ये भी धर्मात्मा श्रावकों ने दर्शनहेतु स्थापी हैं। श्रवणबेलगोला में भी इन्द्रगिरि पहाड़ में खुदी हुई ५७ फीट ऊँची बाहुबली भगवान की प्रतिमा कितनी अद्भुत है! अहा, जैसे वीतरागता का पिण्ड हो! पवित्रता और पुण्य दोनों इसमें दिखाई दे रहे हैं। इस प्रकार श्रावक बहुत भक्ति से जिनविम्ब स्थापित और जिनमंदिर निर्माण करता है। आजकल तो यहाँ अनार्यवृत्ति वाले बहुत और आर्यजीव थोड़े, उसमें भी जैन थोड़े, उसमें भी धर्म के जिज्ञासु बहुत थोड़े, और उनमें भी धर्मात्मा और साधु तो अत्यन्त विरले। वस्तुतः वे तीनोंकाल में विरल हैं परन्तु वर्तमान में यहाँ तो बहुत ही विरले हैं। जहाँ देखो वहाँ कुदेव और मिथ्यात्व का जोर फैला हुआ है। ऐसे कलिकाल में भी जो जीव भक्तिपूर्वक जिनालय और जिनविम्ब की विधिपूर्वक स्थापना कराते हैं वे जिनदेव के भक्त, सम्यग्दृष्टि धर्म के रुचिवंत हैं, और ऐसे धर्मी जीवों की सज्जन लोग प्रशंसा करते हैं।

देखो भाई, जिनमार्ग में वीतराग-प्रतिमा अनादि की है। स्वर्ग में शाश्वत जिन प्रतिमायें हैं, नन्दीश्वर में हैं, मेरुपर्वत पर हैं। पांचसौ धनुष के रत्नमय जिनविम्ब ऐसे अलौकिक हैं—मानों कि साक्षात् तीर्थंकर हों और अभी वाणी खिरेगी!! कार्तिक, फाल्गुन और अषाढ मास की अष्टाह्निका में इन्द्र और देव नन्दीश्वर जाकर महा भक्ति-पूर्वक दर्शन-पूजन करते हैं। शास्त्रों में अनेक प्रकार के महापूजन कहे हैं—इन्द्र द्वारा पूजा हो वह इन्द्रध्वज पूजा है, चक्रवर्ती किमिच्छक दानपूर्वक राजाओं के साथ जो महापूजा करता है उसे कल्पद्रुम पूजा कहते हैं, अष्टान्हिका में जो विशेष पूजा हो उसे आष्टाह्निक पूजन कहते हैं, मुकुटबद्ध राजा जो पूजन कराते हैं उसे सर्वतोभद्र अथवा महामहः पूजा कहते हैं, प्रतिदिन श्रावक जो पूजा करे वह नित्यमहः पूजन है।

भरत चक्रवर्ती महापूजन रचाते थे उसका विशद वर्णन आदिपुराण में आता है। सूर्य के अन्दर शाश्वत जिनबिम्ब हैं, भरत चक्रवर्ती को चक्षु संबंधी ज्ञान का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना तीव्र क्षयोपशम था कि वे अपने महल में से सूर्य में रहे हुए जिनबिम्ब का दर्शन करते थे। उस पर से प्रातः सूर्यदर्शन का रिवाज प्रचलित हो गया। लोग मूल वस्तु को भूल गये और सूर्य को पूजने लगे, शास्त्रों में स्थान-स्थान पर जिनप्रतिमा का वर्णन आता है। अरे, स्थानकवासी द्वारा माने हुए आगम में भी जिनप्रतिमा का उल्लेख आता है परन्तु वे उसका अर्थ विपरीत करते हैं। एक वार संवत् १९७८ में मैंने (पूज्य श्री कानजी स्वामी ने) एक पुराने स्थानकवासी साधु से पूछा कि इन शास्त्रों में जिन-प्रतिमा का तो वर्णन आता है,—क्योंकि "जिन के शरीर-प्रमाण ऊँचाई" ऐसी उपमा दी है, जो यह प्रतिमा यक्ष की हो तो ऐसी जिन की उपमा नहीं देते।— तब उस स्थानकवासी साधु ने यह बात स्वीकार की और कहा कि आपकी बात सत्य है—'है तो ऐसा ही'। तीर्थंकर की ही प्रतिमा है; परन्तु बाहर में ऐसा नहीं बोला जाता। तब ऐसा लगा कि अरे, यह क्या! अन्दर कुछ माने और बाह्य में दूसरी बात कहे—ऐसा भगवान का मार्ग नहीं होता। इन जीवों को आत्मा की दरकार नहीं; भगवान के मार्ग की दरकार नहीं; सत्य के शोधक जीव ऐसे सम्प्रदाय में नहीं रह सकते। जिनमार्ग में वीतराग मूर्ति की पूजा अनादि से चली आ रही है, बड़े-बड़े ज्ञानी भी उसे पूजते हैं। जिसने मूर्ति का निषेध किया उसने अनन्त ज्ञानियों की विराधना की है।

शास्त्र में तो ऐसी कथा आती है कि जब महावीर भगवान् राजगृही में पधारे और श्रेणिक राजा उनकी वंदना करने जाते हैं तब एक मेंढक भी भक्ति से मुँह में

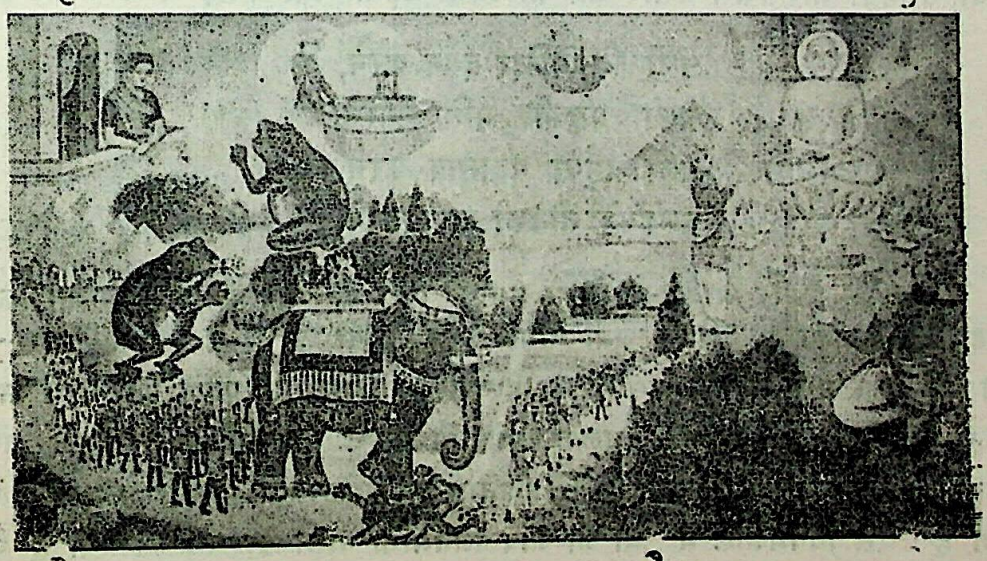

फूल लेकर प्रभु की पूजा करने जाता है; वह राह में हाथी के पैर के नीचे दबकर मर जाता है और देवपर्याय में उत्पन्न होकर तुरन्त भगवान् के समवशरण में आता है। धर्मी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव भगवान् के दर्शन करते हुए साक्षात् भगवान् को याद करता है कि अहो, भगवान्! अहो सीमन्धरनाथ! आप विदेहक्षेत्र में हो और मैं यहाँ भरतक्षेत्र में हूँ, आपके साक्षात् दर्शन का मुझे विरह हुवा! प्रभो ऐसा अवसर कब आवे कि आपका विरह दूर हो, अर्थात् राग-द्वेष का सर्वथा नाश करके आप जैसा वीतराग कब होऊँ! धर्मी ऐसी भावना द्वारा राग को तोड़ता है, अर्थात् भगवान् से वह क्षेत्र अपेक्षा दूर होते हुए भी भाव से समीप है कि हे नाथ! इस वैभव-विलास में रचापचा हमारा जीवन यह कोई जीवन नहीं, वास्तविक जीवन तो आपका है; आप केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जी रहे हो, वही सच्चा जीवन है। प्रभो, हमें भी यही उद्यम करना है। प्रभो, वह घड़ी धन्य है कि जब मैं मुनि होकर आपके जैसा केवलज्ञान का साधन करूँगा, ऐसा पुरुषार्थ नहीं जागता तबतक धर्मी जीव श्रावक-धर्म का पालन करता है, और दान, जिनपूजा आदि कार्यों द्वारा वह अपने गृहस्थ-जीवन को सफल करता है।

वर्तमान में तो मुनियों की दुर्लभता है, और मुनि हों तो भी वे कोई जिनमन्दिर बँधवाने या पुस्तक छपवाने जैसी प्रवृत्ति नहीं करते, बाह्य की कोई प्रवृत्ति का भार मुनि अपने सिर पर नहीं रखते, ऐसा कार्य तो श्रावक ही करता है। उत्तम श्रावक प्रगाढ़ भक्ति सहित जिनमन्दिर बनावे, प्रतिष्ठा करावे, उसकी शोभा बढ़ावे, कहाँ क्या चाहिये; और किस प्रकार धर्म की शोभा बढ़ेगी-ऐसा प्रगाढ़ भक्ति करता है।

चलो जिनमन्दिर दर्शन करने,
चलो प्रभुकी भक्ति करने,
चलो धर्मका महोत्सव करने,
चलो कोई तीर्थकी यात्रा करने,

—इस प्रकार श्रावक-श्राविका प्रगाढ़ भक्ति से जैनधर्म को शोभित करे। अहा, शान्त दशा को प्राप्त धर्मी जीव कैसा होता है और वीतरागी देव-गुरु की भक्ति का उसे उल्लास कैसा होता है उसकी भी जीवों को खबर नहीं। पूर्व समय में तो वृद्ध-युवा, बहिनें और बालक सभी धर्मप्रेमी थे और धर्म द्वारा अपनी शोभा मानते थे। इसके बदले वर्तमान में तो सिनेमा का शौक बढ़ा है और स्वच्छन्द फूट पड़ा है। ऐसे विषमकाल में भी जो जीव जिनभक्ति वाला है, धर्म का प्रेमी है और जिनमन्दिर आदि बनवाता है—ऐसे श्रावक धन्य हैं!

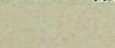

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२२]

सच्ची जिनभक्ति में वीतरागता का आदर

धर्मी के थोड़े शुभभाव का भी महान फल है—तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात! जिसे अन्तर में वीतरागभाव रुचा उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो! जिन-मंदिर बनवाने की बात तो दूर रही परन्तु वहाँ दर्शन करने जाने का भी जिसे अवकाश नहीं–उसे धर्म का प्रेम कौन कहे?

वीतरागी जिनमार्ग के प्रति श्रावक का उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है वह कहते हैं—

विम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य ॥ २२ ॥

जो जीव भक्ति से बेल के पत्र जितना छोटा जिनमंदिर बनवाता है और जो जौ के दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है उसके महान पुण्य का वर्णन करने के लिये इस लोक में सरस्वती-वाणी भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव यह दोनों कराता है, अर्थात् ऊँचे ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है—उसके पुण्य की तो क्या बात!

देखो, इसमें "भक्तिपूर्वक" की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सन्मान के लिये अथवा देखादेखी से कितने ही पैसे खर्च कर दे उसकी यह बात नहीं, परन्तु भक्तिपूर्वक अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवान की कुछ पहचान हुई है और अन्तर में बहुमान पैदा हुआ है कि अहो, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव! ऐसे भगवान को मैं अपने अन्तर में स्थापित करूँ और संसार में भी इनकी प्रसिद्धि हो—ऐसे बहुमान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भक्तिभावपूर्वक जिन-प्रतिमा और जिन-मन्दिर बनवाने का भाव जिसे आता है उसे उच्च जाति का लोकोत्तर पुण्य बँधता है; क्योंकि उसके भावों में वीतरागता का बहुमान हुवा है।—पश्चात् भले ही प्रतिमा मोटी हो या छोटी, परन्तु उसकी स्थापना में वीतरागता का बहुमान और वीतराग का आदर है, यही उत्तम पुण्य का कारण है।

भगवान् की मूर्ति को यहाँ "जिनाकृति" कहा है अर्थात् अरहन्त-जिनदेव की जैसी निर्विकार आकृति होती है वैसी ही निर्दोष आकृतिवाली जिन-प्रतिमा होती है। जिनेन्द्र भगवान् वस्त्र-मुकुट नहीं पहनते और इनकी मूर्ति वस्त्र-मुकुट सहित हो तो इसे जिनाकृति नहीं कहते। "जिन-प्रतिमा जिनसारखी भाखी आगम माँय।" —ऐसी निर्दोष प्रतिमा जिनशासन में पूज्यनीय है।

यहाँ तो कहते हैं कि अहो, जो जीव भक्ति से ऐसा वीतराग जिनबिम्ब और जिन-प्रतिमा कराता है उसके पुण्य की महिमा वाणी से कैसे कही जा सकती है? देखो तो सही, धर्मी के अल्प शुभभाव का इतना फल! तो इसकी शुद्धता की महिमा की तो क्या बात!! जिसे अन्तरंग में वीतरागभाव रुचा उसे वीतरागता के बाह्य निमित्तों के प्रति भी कितना उत्साह हो? एक उदाहरण इसप्रकार आता है कि—एक सेठ जिनमन्दिर बनवाता था, उसमें काम करते हुवे पत्थर की जितनी रज कारीगर द्वारा निकाली जाती उसके वजन के बराबर चाँदी देता था। इसके मन में ऐसा भाव था कि अहो, मेरे भगवान् का मन्दिर बन रहा है तो उसमें कारीगरों को भी मैं प्रसन्न करूँ,—जिससे मेरा मन्दिर का काम उत्तम हो। उस समय के कारीगर भी सच्चे हृदय वाले थे। वर्तमान में तो लोगों की वृत्ति में बहुत फेरफार हो गया है। यहाँ तो भगवान के भक्त श्रावक-धर्मात्मा को जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा का कैसा शुभराग होता है वह बताया है।

संसार में देखो तो, पाँच-दस लाख रुपयों की कमाई हो और लाख-दो लाख रुपये खर्च करके बंगला बनवाता हो तो कितनी हौंश करता है? कहाँ क्या चाहिये और किस प्रकार अधिक शोभा हो—इसका कितना विचार करता है? इसमें तो ममता का पोषण है। परन्तु धर्मात्मा को ऐसा विचार आता है कि अहो, मेरे भगवान जिसमें विराजें ऐसा जिनमंदिर, उसमें क्या-क्या चाहिये और किस रीति से अधिक शोभित हो?—इस प्रकार विचार करके हौंश से (तन से, मन से, धन से) उसमें वर्तन करता है। वहाँ व्यर्थ की झूठी करकसर अथवा कंजूसाई करता नहीं। भाई, ऐसे धर्मकार्य में तू उदारता रखेगा तो तुझे ऐसा लगेगा कि मैंने जीवन में धर्म के लिये कुछ किया है, एकमात्र पाप में ही जिन्दगी नहीं बिगाड़ी, परन्तु धर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

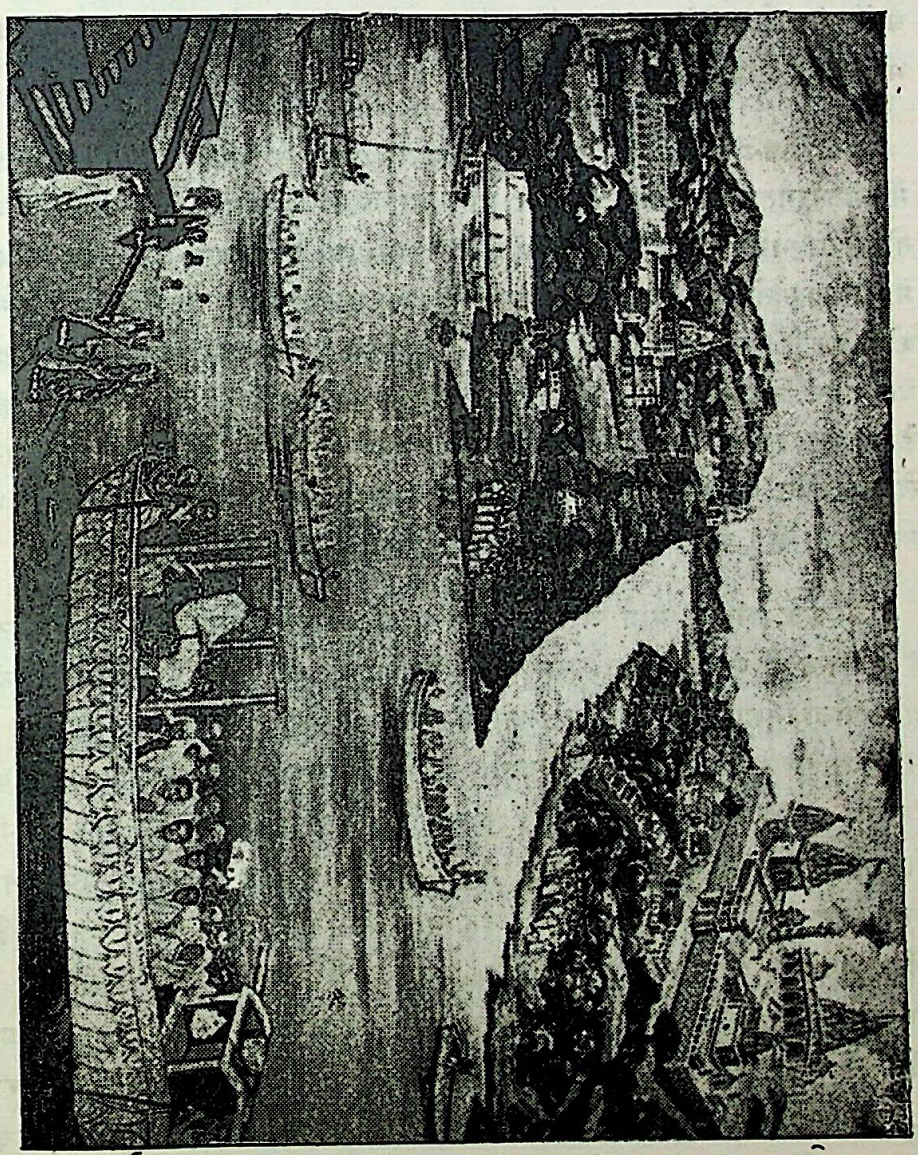

देवा नदी सिंधुवरकूट, पश्चिम दिशा देइ जइँ छूट ।
द्वै चक्री दश कामकुमार, ऊठ कोडि वंदौं भव पार ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की तरफ के कुछ भाव किये हैं—इसप्रकार तुझे धर्म के बहुमान का भाव रहा करेगा। इसका ही लाभ है। और ऐसे भाव के साथ में जो पुण्य बँधता है वह भी लौकिक दया-दान की अपेक्षा उच्चकोटि का होता है! एक मकान बाँधने वाला कारीगर, जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है वैसे वैसे वह भी ऊँचा चढ़ता जाता है, उसी प्रकार धर्मी जीव जैसे-जैसे शुद्धता में आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके पुण्य का रस भी बढ़ता जाता है।

जिन-मंदिर और जिन-प्रतिमा कराने वाले के भाव में क्या है?—इसके भाव में वीतरागता का आदर है और राग का आदर छूट गया है।—ऐसे भाव से करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है; और वीतरागभाव के बहुमान द्वारा वह जीव अल्पकाल में राग को तोड़कर मोक्ष प्राप्त करता है। परन्तु, यह बात लक्ष्य में लिये बिना, ऐसे ही कोई कह दे कि तुमनें मंदिर बनवाया इसलिये ८ भव में तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा, यह बात सिद्धान्त की नहीं है। भाई, श्रावक को ऐसा शुभभाव होता है यह बात सत्य है, परन्तु इस राग की जितनी हद हो उतनी रखनी चाहिये। इस शुभ राग के फल से उच्चकोटि का पुण्य बँधने का कहा है परन्तु उससे कर्मक्षय होने का भगवान ने नहीं कहा है। कर्म का क्षय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही कहा है।

अरे, सच्चा मार्ग और सच्चे तत्त्व को समझे बिना जीव कहाँ अटक जाता है। शास्त्र में व्यवहार के कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं, परन्तु मूल तत्त्व को और वीतरागभावरूप माग को लक्ष्य में रखकर इसका अर्थ समझना चाहिये। शुभराग से ऊँचा पुण्य बंधता है—ऐसा बताने के लिये उसकी महिमा की, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जाता है। अन्य कितने ही जीव तो भगवान का जिन-मंदिर होता है वहाँ दर्शन करने भी नहीं जाते। भाई, जिसे वीतरागता का प्रेम होता है और जहाँ जिन-मंदिर का योग हो वहाँ वह भक्ति से रोज दर्शन करने जाता है। जिन-मंदिर बनवाने की बात तो दूर रही, परन्तु वहाँ दर्शन करने जाने का भी जिसे अवकाश नहीं उसे धर्म का प्रेम कौन कहे? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमा का भक्ति से दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। पोन्नूर ग्राम में एक पुराना मंदिर है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्राम में आये तब वे वहाँ दर्शन करने जाते थे। (संवत् २०२० की यात्रा में आपने वह मंदिर देखा है) समन्तभद्रस्वामी ने भी भगवान की अद्भुत स्तुति की है। २००० वर्ष पूर्व किसी बड़े राजा को जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा करवानी थी तब उसकी विधि के लिये शास्त्र रचने की आज्ञा कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अपने शिष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयसेन मुनि को दी, उन जयसेन स्वामी ने मात्र दो दिन में प्रतिष्ठा-पाठ की रचना की इसलिये कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने उन जयसेन स्वामी को "वसुबिन्दु" (अर्थात् आठ कर्मों का अभाव करने वाले) ऐसा विशेषण दिया, उनका रचा प्रतिष्ठा-पाठ "वसुबिन्दु" प्रतिष्ठा-पाठ कहलाता है। उसके आधार से प्रतिष्ठा की विधि होती है। बड़े-बड़े धर्मात्माओं को जिनभगवान की प्रतिष्ठा का, उनके दर्शन का ऐसा भाव आता है, और तू कहता है कि मुझे दर्शन करने का अवकाश नहीं मिलता अथवा मुझे पूजा करते शर्म आती है!—तो तुझे धर्म को रुचि नहीं, देव-गुरु का तुझे प्रेम नहीं। पाप के काम में तुझे अवकाश मिलता है और यहाँ तुझे अवकाश नहीं मिलता—यह तो तेरा व्यर्थ का बहाना है। और जगत् के पापकार्यों-काला बाजार आदि, के करने में तुझे शर्म नहीं आती और यहाँ भगवान के समीप जाकर पूजा करने में तुझे शर्म आती है!! वाह, बलिहारी है तेरी औंधाई की! शर्म तो पापकार्य करने में आनी चाहिये, उसके बदले वहाँ तो तुझे होंश आती है और धर्म के कार्य में शर्म आने का कहता है,—परन्तु वास्तव में तुझे धर्म का प्रेम ही नहीं है। एक राजा की कथा आती है कि, राजा राजदरबार में आ रहा था वहाँ बीच में किन्हीं मुनिराज के दर्शन हुवे, वहाँ भक्ति से राजा ने उनके चरण में मुकुटबद्ध सिर झुकाया.....और पश्चात् राज-दरबार में आया। वहाँ दीवान ने उनके मुकुट पर धूल लगी देखी और वह उसे झाड़ने लगा। तब राजा उसे रोककर कहते हैं कि—दीवानजी रहने दो.....इस रज से तो मेरे मुकुट की शोभा है यह रज तो मेरे वीतराग गुरु के चरण से पवित्र हुई है!—देखो, यह भक्ति!! इसमें इसे शर्म नहीं आती कि अरे, मेरे बहुमूल्य मुकुट में धूल लग गई!—अथवा अन्य मेरी हँसी उड़ावेंगे! अरे, भक्ति में शर्म कैसी? भगवान के भक्त को भगवान के दर्शन बिना चैन नहीं। यहाँ (सोनगढ़ में) पहले मंदिर नहीं था, तब भक्तों को ऐसा विचार आया कि अरे, अपने को यहाँ भगवान का विरह हुआ है, उनके तो साक्षात् दर्शन नहीं और उनकी प्रतिमा के भी दर्शन नहीं!—इस प्रकार दर्शन की भावना उत्पन्न हुई। उस पर से संवत् १९९७ में यह जिन-मंदिर बना। आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भगवान के दर्शन से किसे प्रसन्नता न हो! और उनका जिन-मंदिर तथा जिन-प्रतिमा स्थापन करावे उसके पुण्य की क्या बात!! भरत चक्रवर्ती जैसों ने पांच-पांचसौ धनुष की ऊँची प्रतिमाएँ स्थापित करवाई थीं, उनकी शोभा की क्या बात!! वर्तमान में भी देखिये—बाहुबली भगवान की मूर्ति कैसी है! अहा, वर्तमान में तो इसकी कहीं जोड़ नहीं। नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती महान मुनि थे, उनके द्वारा इसकी प्रतिष्ठा हुई है; और इसके सामने की पहाड़ी (चन्द्रगिरि) पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक जिनालय में उन्होंने गोम्मटसार की रचना की थी। बाहुबली भगवान की यह प्रतिमा गोमटेश्वर भी कहलाती है। यह तो सत्तावन फीट ऊँची है और इसका अचिन्त्य-दर्शन है...पुण्य और पवित्रता दोनों की झलक उनकी मुद्रा ऊपर चमकती है। और बाहुबली भगवान् की अन्य एक अत्यन्त छोटी (चने के दाने बराबर) रत्न-प्रतिमा मूलबिद्री में है।—ऐसी प्रतिमा करवाने का उत्साह श्रावक-धर्मात्माओं को आता है ऐसा यहाँ बताना है।

देखो, यह किसकी बात चलती है? यह श्रावक के धर्म की बात चलती है। आत्मा रागरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप है, उसकी रुचि करके राग घटाने का अन्तरप्रयत्न वह गृहस्थधर्म का प्रकाश करनेवाला मार्ग है। उसमें दान के वर्णन में जिन-प्रतिमा कराने का विशेष वर्णन किया है। जिस प्रकार, जिसे धन प्रिय है वह धनवान का गुणगान करता है, उसी प्रकार जिसे वीतरागता प्रिय है वह भक्तिपूर्वक वीतरागदेव के गुणगान करता है; उनके विरह में उनकी प्रतिमा में स्थापना करके दर्शन-स्तुति करता है। इस प्रकार शुद्धस्वरूप की दृष्टि रखकर, अशुभ स्थानों से बचता है, ऐसा श्रावक-भूमिका का धर्म है।

कोई कहे कि शुद्धता वह मुनि का धर्म, और शुभराग वह श्रावक का धर्म,—तो ऐसा नहीं। धर्म तो मुनि को अथवा श्रावक को दोनों को एक ही प्रकार का राग-रहित शुद्धपरिणतिरूप ही है। परन्तु श्रावक को अभी शुद्धता अल्प है वहाँ राग के भेद जिनपूजा, दान आदि होते हैं, इसलिये शुद्धता के साथ के इन शुभकार्यों को भी गृहस्थ के धर्मरूप से वर्णन किया है; अर्थात् इस भूमिका में ऐसे शुभभाव होते हैं।

देखिये, नग्न-दिगम्बर सन्त, वन में बसनेवाले और स्वरूप की साधना में छठे-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनि को भी भगवान के प्रति कैसे भाव उल्लसित होते हैं! वे कहते हैं कि—छोटा-सा मन्दिर बनावे और उसमें जौ के दाने जितनी जिन-प्रतिमा की स्थापना करे-उस श्रावक के पुण्य की अपूर्व महिमा! अर्थात् उसे वीतरागभाव की जो रुचि हुई है उसके महान फल की क्या बात! प्रतिमा चाहे छोटी हो-परन्तु वह वीतरागता का प्रतीक है ना! इसकी स्थापना करने वाले को वीतराग का आदर है, उसका फल महान है। कुन्दकुन्दस्वामी तो कहते हैं कि—अरहंतदेव को बराबर पहचाने तो सम्यक्दर्शन हो जावे। जिसे वीतरागता प्रिय लगी, जिसे सर्वज्ञस्वभाव रुचा, उसे सर्वज्ञ-वीतरागदेव के प्रति परमभक्ति का उल्लास आता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इन्द्र जैसे भी देवलोक से उतरकर समवसरण में आ-आकर तीर्थंकर प्रभु के चरणों की सेवा करते हैं...हजार हजार आँख से प्रभु को देखते हैं—तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती। अहो, आपकी वीतरागी शान्त मुद्रा देखा ही करें ऐसा लगता है! गृहस्थ की भूमिका में ऐसे भावों से ऊँची जाति का पुण्य बँधता है, इसे राग तो है, परन्तु राग की दिशा संसार की तरफ से हटकर धर्म की तरफ हो गई है, इसलिये वीतरागता की भावना खूब घुटती रहती है। अहा, भगवान् स्वरूप में ठहर गये लगते हैं, ज्ञातादृष्टापने से जगत् को साक्षीरूप देख रहे हों और उपशम-रस की धारा बरस रही हो-ऐसी भाववाही जिन-प्रतिमा होती है। —ऐसी निर्विकार वीतराग जिनमुद्रा का दर्शन वह अपने वीतरागस्वभाव के स्मरण का और ध्यान का निमित्त है।

धर्मी का ध्येय वीतरागता है। जिस प्रकार चतुर किसान चारे के लिये नहीं बोता परन्तु अनाज हेतु बोता है; अनाज के साथ चारा भी बहुत होता है। उसी-प्रकार धर्मी का प्रयत्न वीतरागता के लिये है राग हेतु नहीं। चैतन्यस्वभाव की दृष्टि-पूर्वक शुद्धता को साधते-साधते बीच में पुण्यरूपी ऊँचा घास भी बहुत पकता है। परन्तु इस घास को कोई मनुष्य नहीं खाता; मनुष्य तो अनाज खाता है; उसी प्रकार धर्मी जीव राग को अथवा पुण्य को आदरणीय नहीं मानता है, वीतरागभाव को ही आदरणीय मानता है। देखो, इसमें दोनों बातें इकट्ठी हैं, श्रावक की भूमिका में राग कैसा होता है और धर्म कैसा होता है—इन दोनों का स्वरूप इसमें आ जाता है।

ज्ञानी को धर्म सहित जो पुण्य होता है वह ऊँची जाति का होता है; अज्ञानी का पुण्य बिना सारवाला होता है, उसकी पर्याय में धर्म का दुष्काल है। जिस प्रकार उत्तम अनाज के साथ जो घास पकता है वह घास भी पुष्टिकर होता है; दुष्काल में अनाज बिना अकेला घास पकता है उसमें बहुत पुष्टि नहीं होती; उसी प्रकार जहाँ धर्म का दुष्काल है वहाँ पुण्य भी हलका होता है, और धर्म की भूमिका में पुण्य भी ऊँची जाति का होता है। तीर्थंकरपना, चक्रवर्तीपना, इन्द्रपना आदि का लोकोत्तर पुण्य धर्म की भूमिका में ही बँधता है। गृहस्थों को जिन-मंदिर जिनबिम्ब बनवाने से तथा आहारदान आदि से महान पुण्य बँधता है, इसीलिये मुनिराज ने उसका उपदेश दिया है। अविकृत स्वरूप के आनन्द में झूलने वाले संत—प्राण जावें तो भी जो झूठ नहीं बोलें, और इन्द्राणी आकाश से उतर आवे तो भी अशुभवृत्ति जिन्हें नहीं उठे, —ऐसे वीतरागी मुनि का यह कथन है, जगत् के पास से इन्हें एक कण भी नहीं चाहिये,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मात्र जगत के जीवों को लोभरूपी पाप के कुएँ से निकालने और धर्म में लगाने हेतु करुणापूर्वक उपदेश दिया है। जिसका पत्थर जैसा हृदय होवे उसकी भिन्न बात है, परन्तु फूल की कली जैसा कोमल जिसका हृदय हो उसे तो इस वीतरागी उपदेश की गुंजार सुनते ही प्रसन्नता हो उठेगी; जिनेन्द्र भक्तिवंत तो आनन्दित होगा। परन्तु जिस प्रकार उल्लू को अथवा घुग्घू को सूर्य का प्रकाश अच्छा नहीं लगता है, उसे तो अँधेरा अच्छा लगता है, उसी प्रकार चैतन्य का प्रकाश करनेवाला यह वीतरागी उपदेश जिसे नहीं रुचता वह भी मिथ्यात्व के घोर अंधकार में पड़ा हुआ है। जिज्ञासु को तो ऐसा उल्लास आता है कि अहो, यह तो मेरे चैतन्य का प्रकाश करने वाली अपूर्व बात है। तीनलोक के नाथ जिनदेव जिसमें विराजमान होते हैं उसकी शोभा हेतु धर्मी भक्तों को उल्लास होना है। वादिराज स्वामी कहते हैं—प्रभो! आप जिस नगरी में अवतार लेते हैं वह नगरी सोने की हो जाती है, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदय में आपको स्थापन किया और यह शरीर बिना रोग के सोने जैसा न होवे यह कैसे हो सकता है? और आपको आत्मा में विराजमान करते ही आत्मा में से मोह-रोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे यह कैसे बने?

धर्मी श्रावक को, उसी प्रकार धर्म के जिज्ञासु जैन को ऐसा भाव आता है कि अहो, मैं मेरे वीतरागस्वभाव के प्रतिबिम्बरूप इस जिनमुद्रा को प्रतिदिन देखूँ। जिस प्रकार माता को बिना पुत्र के चैन न पड़े उसी प्रकार भगवान के विरह में भगवान के दर्शन बिना भगवान के पुत्रों को—भगवान के भक्तों को चैन नहीं पड़ता। चेलना रानी श्रेणिक राजा के राज्य में आई परन्तु श्रेणिक तो बौद्ध धर्म को मानता था, इसलिये उसे वहाँ जैनधर्म की छटा नहीं दिखी, इस कारण चेलना को किसी प्रकार चैन नहीं पड़ा, आखिर में राजा को समझाकर बड़े-बड़े जिन-मंदिर बनवाए और श्रेणिक राजा को भी जैनधर्म ग्रहण करवाया। इसी प्रकार हरिषेण चक्रवर्ती की भी कथा आती है।—इनकी माता जिनदेव की विशाल रथयात्रा निकालने को मांग करती रहीं परन्तु दूसरी रानियों ने उस रथ को रुकवा दिया इसलिये हरिषेण की माता ने अनशन की प्रतिज्ञा ली थी कि मेरे जिनेन्द्र भगवान का रथ धूमधाम से निकलेगा तभी मैं आहार लूंगी।—आखिर में उसके पुत्र ने चक्रवर्ती होकर बड़ी धूमधाम से भगवान की रथयात्रा निकाली। अकलंक स्वामी के समय में भी ऐसी ही बात हुई और उन्होंने बौद्ध गुरु को वाद-विवाद में हराकर भगवान की रथयात्रा निकलवायी और जैनधर्म की बहुत प्रभावना की। (इन तीनों के—चेलनारानी, हरिषेण चक्रवर्ती और अकलंक स्वामी के धार्मिक नाटक सोनगढ़ में हो चुके हैं।) इस प्रकार धर्मी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रावक भक्तिपूर्वक जिनशासन की प्रभावना करते हैं, जिन-मंदिर बंधवाते हैं, वीतराग जिनबिम्ब की स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बँधता है। चाहे छोटी से छोटी वीतराग प्रतिमा हो परन्तु उसकी स्थापना में त्रैकालिक वीतराग-मार्ग का आदर है! इस मार्ग के आदर से ऊँचा पुण्य बँधता है।—इसप्रकार, जिनदेव के भक्त धर्मी-श्रावक अत्यन्त बहुमान से जिन-मंदिर तथा जिन-बिम्ब की स्थापना कराते हैं वह बात कही तथा उसका उत्तम फल बताया।

जहाँ जिन-मंदिर होता है वहाँ सदैव धर्म के नये-नये मंगल-उत्सव होते रहते हैं; वह बात अब अगली गाथा में कहेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२३]

श्रावक की धर्मप्रवृत्ति के विविध प्रकार

धर्मी जीव को घर की शोभा की अपेक्षा जिन-मंदिर की शोभा का अधिक उत्साह होता है; सर्व प्रकार से संसार की ओर का प्रेम कम करके धर्म के प्रेम को वह बढ़ाता है। मात्र किसी कुल में जन्म लेने से श्रावकपना नहीं होता, परन्तु सर्वज्ञ की पहचान और स्वसन्मुखता पूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करने से श्रावकपना होता है। जहाँ धर्म के उत्सव के लिये रोज दान होता है, जहाँ मुनि आदि धर्मात्माओं का आदर होता है वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है, इसके बिना श्रावकपना शोभा नहीं पाता है।

जहाँ जिन-मंदिर हो वहाँ श्रावक हमेशा भक्ति से नये-नये उत्सव करता है, उसका वर्णन करते हैं—

यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैः तूर्यत्रिकैर्जागरैः।
घंटाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥ २३ ॥

इस जगत में जहाँ चैत्यालय हो वहाँ भव्य जीव रथयात्रा निकाले; भगवान का कलशाभिषेक आदि सैकड़ों प्रकार के बड़े-बड़े उत्सव करे, अनेक प्रकार के पूजनादि करे; चाँदनी-चँदेवा-तोरण चढ़ावे, नैवेद्य तथा अन्य भेंट चढ़ावे; ध्वज, कलश, तूर्यत्रिक अर्थात् गीत-नृत्य-साज, जागरण, घंटा, चँवर तथा दर्पण आदि द्वारा उत्कृष्ट शोभा का विस्तार करे;—इसप्रकार निरन्तर पुण्य का उपार्जन करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखो, जहाँ धर्म के प्रेमी श्रावक हों वहाँ जिन-मंदिर हो, और जहाँ मंदिर हो वहाँ प्रतिदिन मंगल-महोत्सव हुवा करे। किसी समय मंदिर की वर्षगाँठ हो, भगवान के कल्याणक का प्रसंग हो, पर्युषण हो, अष्टाह्निका-पर्व हो, ऐसे अनेक प्रसंगों में धर्मी जीव भगवान के मंदिर में पूजा-भक्ति का उत्सव करावे। इस बहाने दानादि में अपना धन खर्च करके शुभभाव करे और राग को घटावे। जो कि वीतरागभगवान तो कुछ नहीं देते और कुछ नहीं लेते, पूजा करने वाले के प्रति अथवा निन्दा करने वाले के प्रति उन्हें तो वीतरागभाव ही वर्तता है, परन्तु भक्त को जिन-मंदिर की शोभा आदि का उल्लासभाव आये बिना नहीं रहता। अपने घर की शोभा बढ़ाने का भाव कैसे आता है?—उसी प्रकार धर्मी को धर्मप्रसंग में जिन-मंदिर की शोभा किस प्रकार बढ़े,—ऐसा भाव आता है। श्रावक अत्यन्त भक्ति से शुद्ध जल द्वारा भगवान का अभिषेक करे तब उसे ऐसा भाव उल्लसित होवे कि मानों साक्षात् अरहन्तदेव का ही स्पर्श हो रहा हो। जिसप्रकार पुत्र के लग्न आदि प्रसंग में उत्सव करता है और मंडप की तथा घर की शोभा कराता है, उसकी अपेक्षा अधिक उत्साह से धर्मी जीव धर्म की शोभा और उत्साह करावे।—जहाँ मंदिर हो और जहाँ धर्मी श्रावक हो वहाँ बारम्बार आनन्द-मंगल के ऐसे प्रसंग बना करें, और घर के छोटे बच्चों में भी धर्म के संस्कार पड़ें।

धर्म के लिये जो अनुकूल न हो अथवा धर्म के लिये जो बाधाकारक लगे ऐसे देश को, ऐसे संयोग को धर्मी जीव छोड़ दे। जहाँ जिन-मंदिर आदि हो वहाँ धर्मात्मा रहे, और वहाँ नये-नये मंगल-उत्सव हुआ करें। और कोई विशेष प्रकार का जिन-मन्दिर अथवा जिनप्रतिमा हो वहाँ यात्रा करने के लिये अनेक श्रावक आवें; तथा सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा भी श्रावक करे,-इसप्रकार वह मोक्षगामी सन्तों को याद करता है। किसी समय मंदिर की वर्षगाँठ हो, किसी समय मन्दिर को दस अथवा पच्चीस अथवा सौ वर्ष पूरे होते हों तो वह उसका उत्सव करे; कोई बड़े संत-महात्मा मुनि आदि पधारें तब उत्सव करे, पुत्र-पुत्री के लग्नोत्सव-जन्मोत्सव आदि के निमित्त भी मंदिर में पूजनादि से शोभा करावे, रथयात्रा निकलवाये,—इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग में गृहस्थ धर्म को याद किया करे। कोई नया महान् शास्त्र आवे तब उसके बहुमान का उत्सव करे। शास्त्र अर्थात् जिनवाणी, वह भी भगवान की तरह ही पूज्य है। अपने घर को जैसे तोरण आदि से शृंगारित करता है और नये-नये वस्त्र लाता है उसी प्रकार जिन-मंदिर के द्वार को भाँति-भाँति के तोरण आदि से शृंगारित करे और नये-नये चंदोवा आदि से शोभा बढ़ावे। इस प्रकार श्रावक के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग की दशा बदल गई है; साथ ही साथ वह यह भी जानता है कि यह राग पुण्यास्रव का कारण है, और जितनी वीतरागी शुद्धता है उतना ही मोक्षमार्ग है।

जिन-मन्दिर के ऊपर कलश तथा ध्वज चढ़वाने का भी महान उत्सव होता है। पूर्व समय में तो शिखर में भी कीमती रत्न लगवाते थे, वे जगमगाते थे। नये-नये वीतरागी चित्रों द्वारा मन्दिर की शोभा करे—इस प्रकार श्रावक सर्वप्रकार से संसार का प्रेम कम करके धर्म का प्रेम बढ़ाता है। जिसे वीतरागमार्ग के प्रति प्रेम उल्लसित हुआ है उसे ऐसे भाव श्रावकदशा में आते हैं। इस धूल के ढेर जैसा शरीर का फोटो किस प्रकार निकलवाता है? और कितने प्रेम से देखता है और शृंगार करता है? तो वीतराग-जिनबिम्ब वीतरागभगवान का फोटो है, परमात्मदशा जिसे प्रिय हो उसे इनके प्रति प्रेम और उल्लास आता है।

केवल कुल-विशेष में जन्म लेने से श्रावकपना नहीं हो जाता, परन्तु सर्वज्ञ की पहिचानपूर्वक श्रावकधर्म का आचरण करने से श्रावकपना होता है। समयसार में जिस प्रकार एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा बताया है उस प्रकार शुद्ध आत्मा की पहिचान-पूर्वक सम्यक्दर्शन होवे तो श्रावकपना शोभा देता है। सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक-पना शोभा नहीं देता। निर्विकल्प अनुभूति सहित सम्यग्दर्शन होवे उसके बाद आनन्द की अनुभूति और स्वरूपस्थिरता बढ़ जाने से अप्रत्याख्यान कषायों का भी अभाव होता है,—ऐसी आंशिक अरागी दशा होवे उसका नाम श्रावकपना है। और उस भूमिका में जो राग बाकी है उसमें जिनेन्द्रदर्शन-पूजन, गुरुसेवा, शास्त्रस्वाध्याय, दान, अणुव्रत आदि होते हैं,—इसलिये वह भी व्यवहार से श्रावक का धर्म है। ऐसे श्रावकधर्म का यह प्रकाशन है।

वर्तमान में तीर्थंकर भगवान साक्षात् नहीं हैं परन्तु उनकी वाणी तो है, इस वाणी से भी बहुत उपकार होता है, इसलिये उस वाणी की (शास्त्र की) भी प्रतिष्ठा की जाती है। और भगवान की मूर्ति समक्ष देखने से ऐसा लगता है मानो साक्षात् भगवान मेरे सामने ही विराज रहे हैं-इस प्रकार अपने ज्ञान में भगवान को प्रत्यक्ष करके साधक को भक्ति-भाव उल्लसित होता है। प्रतिदिन भगवान का अभिषेक करते समय प्रभु का स्पर्श होने पर श्रावक महान हर्ष मानता है कि अहो, आज मैंने भगवान के चरण स्पर्श किये, आज भगवान की चरण-सेवा का परम सौभाग्य मिला।—इस प्रकार धर्मात्मा के हृदय में भगवान के प्रति प्रेम उमड़ता है। मंदिर में भगवान के पास से घर जाना पड़ता है वहाँ इसे अच्छा नहीं लगता, इसे लगता है कि भगवान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के पास ही बैठा रहूँ। भगवान की पूजा आदि के बर्तन भी उत्तम होवें; घर में तो अच्छे वर्तन रखे और पूजन करने हेतु मामूली बर्तन ले जावे-ऐसा नहीं होता। इस प्रकार श्रावक को तो चारों ओर से सभी पहलुओं का विवेक होता है। साधर्मियों पर भी उसे परम वात्सल्यभाव होता है।

जिसे वीतरागस्वभाव का भान हुआ है और मुनिदशा की भावना वर्तती है ऐसे जीव का यह वर्णन है। उसके पहले जिज्ञासु भूमिका में भी यह बात यथायोग्य समझ लेना चाहिये। धर्म के उत्सव में जो भक्तिपूर्वक भाग नहीं लेता, जिसके घर में दान नहीं होता उसे शास्त्रकार कहते हैं कि भाई! तेरा गृहस्थाश्रम शोभा नहीं पाता। जिस गृहस्थाश्रम में रोज-रोज धर्म के उत्सव हेतु दान होता है, जहाँ धर्मात्मा का आदर होता है वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है और वह श्रावक प्रशंसनीय है। अहा! शुद्धात्मा को दृष्टि में लेते ही जिसकी दृष्टि में से सभी राग छूट गया है उसके परिणाम में राग की कितनी मंदता होती है! और यह मंद राग भी सर्वथा छूटकर वीतरागता होवे तब ही केवलज्ञान और मुक्ति होती है।—ऐसे मोक्ष का जो साधक हुआ उसे राग का आदर कैसे होवे? अपने वीतरागस्वभाव का जिसे भान है वह सामने वीतरागविम्ब को देखते ही साक्षात् की तरह ही भक्ति करता है, क्योंकि इसने अपने ज्ञान में तो भगवान साक्षात् रूप देखे हैं ना!

श्रावक को स्वभाव के आनंद का अनुभव हुआ है, स्वभाव के आनंदसागर में एकाग्र होकर वारम्वार उसका स्वाद चखता है, उपयोग को अंतर में जोड़कर शान्त-रस में वारम्वार स्थिर होता है, परन्तु वहाँ विशेष उपयोग नहीं ठहरता इसलिये अशुभ प्रसंगों को छोड़कर शुभ प्रसंग में वह वर्तता है, उसका यह वर्णन है। ऐसी भूमिका वाला श्रावक आयु पूर्ण होने पर स्वर्ग में ही जावे-ऐसा नियम है, क्योंकि श्रावक को सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती; सर्वसंगत्यागी मुनिपने के बिना सीधी मोक्षप्राप्ति किसी को नहीं होती। साथ ही पंचमगुणस्थानी श्रावक स्वर्ग सिवाय अन्य कोई गति में भी नहीं जाता है। अतः श्रावक शुभभाव के फल में स्वर्ग में ही जाता है, और पीछे क्या होता है वह बात आगे की गाथा में कहेंगे।

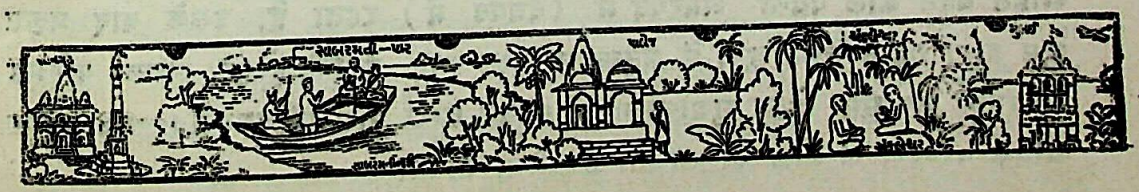

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२४]

श्रावक को पुण्यफलप्राप्ति और मोक्ष की साधना

श्रावक को सिद्ध भगवान जैसे आत्मिक-आनन्द का अंश होता है। वह उत्तम स्वर्ग में जाता है परन्तु उसके वैभव में मूर्च्छित नहीं होता, वहाँ भी आराधकभाव बनाये रखता है, और बाद में मनुष्य होकर वैराग्य प्राप्त कर मुनि होकर आत्मसाधना पूरी करके केवल-ज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में जाता है।—ऐसा श्रावकधर्म का फल है।

धर्मी श्रावक सर्वज्ञदेव को पहिचानकर देवपूजा आदि षट्कार्य प्रतिदिन करता है, जिन-मंदिर में अनेक उत्सव करता है, और उससे पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाता है; वहाँ आराधना चालू रखकर बाद में उत्तम मनुष्य होकर मुनिपना लेकर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है; ऐसी बात अब कहते हैं—

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठंत्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभात्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥ २४ ॥

वह श्रावक चाहे मुनिव्रत न ले सके और अणुव्रतधारी ही होवे तो भी, आयु पूर्ण होने पर नियम से स्वर्ग में जाता है, वहाँ अणिमा आदि महान ऋद्धि-सहित बहुत काल पर्यन्त अमरपद में (देवपद में) रहता है, उसके बाद प्रकृष्ट शुभ द्वारा महान उत्तम कुल में मनुष्यपना प्राप्त कर, वैरागी होकर, सकल परिग्रह का त्याग कर मुनि होकर शुद्धोपयोगरूपी साधन द्वारा मोक्ष पहुँचता है।—इस प्रकार श्रावक परम्परा से मोक्ष को साधता है—ऐसा जानना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनि तो मोक्ष के साक्षात् साधक हैं; और श्रावक परम्परा से मोक्ष का साधक है। श्रावक को केवल व्यवहारसाधन है ऐसा नहीं, किन्तु उसे भी अंशरूप निश्चय-साधन होता है; और वह निश्चय के बल से ही (अर्थात् शुद्धि के बल से ही) आगे बढ़कर राग तोड़कर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है। श्रावक को अभी शुद्धता कम है और राग शेष है—इसलिये वह स्वर्ग में महान ऋद्धि सहित देव होता है। श्रावक मरकर कभी भी विदेहक्षेत्र में जन्म नहीं लेता। मनुष्यगति से मरकर विदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पहले बँधी हुए आयु के कारण जो समकिती मनुष्य पुनः सीधा मनुष्य हो बने वह तो असंख्य वर्ष की आयु वाली भोगभूमि में ही जन्म लेवे, विदेह आदि में जन्म नहीं लेता, और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो कभी मनुष्यपर्याय में से मनुष्य होता ही नहीं, देवगति में ही जाता है, ऐसा नियम है। सम्यक्दृष्टि मनुष्य कभी मनुष्य, तिर्यंच अथवा नरक की आयु नहीं बाँधता; मनुष्यगति में ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टि की भूमिका में ही बँधती हैं;—आयु बँधने पर चाहे सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाय—यह बात अलग है, परन्तु इन तीन में से कोई आयु बाँधते समय तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है। सम्यक्दृष्टि देव होवे या नारकी हो वह मनुष्य की आयु बाँध सके, परन्तु सम्यक्दृष्टि मनुष्य यदि उसे भव होवे और आयु बाँधे तो देवगति की ही आयु बाँधे, अन्य न बाँधे —ऐसा नियम है।

गृहस्थपने में अधिक से अधिक पाँचवें गुणस्थान तक की भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती, वह अधिक से अधिक एकभवावतारी हो सके परन्तु गृहस्थावस्था में मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-अभ्यन्तर दिगम्बर मुनिदशा हुए बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पा सकता। श्रावक-धर्मात्मा आराधकभाव के साथ उत्तम पुण्य के कारण यहाँ से वैमानिक देवलोक में जाता है, वहाँ अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं, परन्तु धर्मी उसमें मूर्च्छित (मोहित) नहीं होता, वह वहाँ भी आरा-धना चालू रखता है। उसने आत्मा का सुख चखा है इसलिये बाह्यवैभव में मूर्च्छित होता नहीं। स्वर्ग में जन्म होने पर वहाँ सबसे पहले इसे ऐसा भाव होता है कि—अहो! यह तो मैंने पूर्वभव में धर्म का सेवन किया उसका प्रताप है, मेरी आराधना अधूरी रह गई, और राग शेष रहा इस कारण यहाँ अवतार हुआ; पहले जिनेन्द्र-भगवान की पूजन-भक्ति की थी उसका यह फल है; इसलिये चलो, सबसे पहले जिनेन्द्र भगवान का पूजन करना चाहिये। ऐसा कहकर स्वर्ग में जो शाश्वत जिन-प्रतिमा हैं उनकी पूजा करता है। इस प्रकार वह स्वर्ग में भी आराधकभाव चालू

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखकर वहाँ असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्यकुल में जन्म लेता है, और योग्य काल में वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालय में जाता है।

देखो, इस श्रावकदशा का फल! श्रावक को सिद्ध भगवान जैसा आत्मिक-आनंद का अंश होता है, और वह एकभवावतारी भी होता है। यह उत्कृष्ट बात कही। कोई जीव को दो-तीन अथवा अधिक से अधिक आठ भव भी (आराधकभाव सहित के, मनुष्य के) होते हैं। परन्तु वह तो मोक्षपुरी में जाते-जाते बीच में विश्राम लेने जितने हैं।

देखो, यह श्रावकधर्म के फल में मोक्षप्राप्ति कही, अर्थात् यहाँ श्रावकधर्म में एकमात्र पुण्य की बात नहीं, परन्तु सम्यक्त्वसहित की शुद्धतापूर्वक की यह बात है। आत्मा के ज्ञान बिना सच्चा श्रावकपना नहीं होता, श्रावकपना क्या है इसका भी बहुतों को ज्ञान नहीं। जैनकुल में जन्म लेने से ही श्रावकपना मान ले, परन्तु ऐसा श्रावकपना नहीं। श्रावकपना तो आत्मा की दशा में है। अपन तो गृहस्थ हैं इसलिये स्त्री-कुटुम्ब को संभाल करना अपना कर्तव्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है।—परन्तु भाई! तेरा सच्चा कर्तव्य तो अपनी आत्मा को सुधारने का है, जीवन में यही सच्चा कर्तव्य है, अन्य का कर्तव्य तेरे पर नहीं। अरे, पहले ऐसी श्रद्धा तो कर! श्रद्धा के पश्चात् अल्प रागादि होंगे परन्तु धर्मी उसे कर्तव्य नहीं स्वीकारता इसलिये वे लँगड़े हो जावेंगे, अत्यन्त मन्द हो जावेंगे। जैसे रंग-बिरंगे कपड़े से लिपटी सोने की लकड़ी वह कोई वस्त्ररूप नहीं होती, उसी प्रकार चित्र-विचित्र परमाणुओं के समूह से लिपटी यह चैतन्य-लकड़ी कोई शरीररूप हुई नहीं, भिन्न ही है। आत्मा को जहाँ शरीर ही नहीं वहाँ पुत्र मकान आदि कैसे?—यह तो स्पष्टरूप से बाहर-दूर पड़े हैं। ऐसा भेदज्ञान करना सच्चा विवेक और चतुराई है। बाहर की चतुराई में तो कोई हित नहीं। चतुर उसे कहते हैं जो चैतन्य को चेते, जाने; विवेकी उसे कहते हैं कि जो स्व-पर का विवेक करे अर्थात् भिन्नता जाने; जीव उसे कहते हैं जो ज्ञान-आनन्दमय जीवन जीवे; चतुर उसे कहते हैं जो आत्मा के जानने में अपनी चतुराई खर्च करे? आत्मा के जानने में जो मूढ़ रहे उसे चतुर कौन कहे?—उसे विवेकी कौन कहे! और आत्म-ज्ञान बिना जीने को जीवन कौन कहे? भाई, मूलभूत वस्तु तो आत्मा को पहचान है। तीर्थयात्रा में भी मुख्य हेतु यह है कि तीर्थ में आराधक जीवों का विशेष स्मरण होता है तथा कोई सन्त-धर्मात्मा का सत्संग मिले। अहिंसा आदि अणुव्रत का पालन, जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन, तीर्थयात्रा आदि से श्रावक को उत्तम पुण्य बँधता है और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह स्वर्ग में जाता है। श्रावक को ऐसी भावना नहीं है कि मैं पुण्य करूँ और स्वर्ग में जाऊँ; परन्तु जैसे किसी को चौवीस गाँव जाना हो और सोलह गाँव चलकर बीच में थोड़े समय विश्राम के लिये रुक जावे, वह कोई वहाँ रुकने के लिये नहीं, उसका ध्येय तो चौबीस गाँव जाने का है; उसी प्रकार धर्मी को सिद्धपद में जाते-जाते, राग छूटते-छूटते कुछ राग शेष रह गया, इसलिये बीच में स्वर्ग का भव होता है, परन्तु इसका ध्येय कोई वहाँ रुकने का नहीं, इसका ध्येय तो परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करना ही है। मनुष्यभव में हो अथवा स्वर्ग में हो, परन्तु वह परमात्मपद की प्राप्ति की भावना से ही जीवन बिताता है। देखो तो, श्रीमद् राजचन्द्रजी भी गृहस्थपना में रहकर मुनिदशा की कैसी भावना भाते थे? ('अपूर्व-अवसर' काव्य में मुनिपद से लेकर सिद्धदशा तक के परमपद की भावना भायी है।) आंशिक शुद्धपरिणति सहित धर्मात्मा का जीवन भी अलौकिक होता है।

पुण्य और पाप, अथवा शुभ या अशुभराग विकृति है; उसके अभाव से आनन्ददशा प्रगट होती है वह स्वाभाविक मुक्तदशा है। श्रावक साधक को भी ऐसी आनन्ददशा का नमूना प्रगट हो गया है।—ऐसी दशा को पहचानकर उसकी भावना भाकर, जिसप्रकार बने उस प्रकार स्वरूप में रमणता बढ़ाने और राग को घटाने का प्रयत्न करना, जिससे अल्पकाल में पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होने का प्रसंग आवे।

भाई, सम्पूर्ण राग न छूटे और तू गृहस्थदशा में हो तब तेरी लक्ष्मी को धर्म-प्रसंग में खर्च करके सफल कर। जैसे चन्द्रकान्त-मणि की सफलता कब कि चन्द्र-किरण के स्पर्श से उसमें से अमृत झरे तब; उसी प्रकार लक्ष्मी की शोभा कब? कि सत्पात्र के योग से वह दान में खर्च होवे तब। श्रावक-धर्मीजीव निश्चय से तो अन्तर में स्वयं अपने को वीतरागभाव का दान करता है, और शुभराग द्वारा मुनियों के प्रति, साधर्मियों के प्रति भक्ति से दानादि देता है, जिनेन्द्रदेव की पूजनादि करता है;—ऐसा उसका व्यवहार है। इसप्रकार चौथी-पाँचवीं भूमिका में धर्मी को ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई कहे कि चौथी भूमिका में जरा भी निश्चयधर्म नहीं होता—तो वह बात असत्य है; निश्चय बिना मोक्षमार्ग कैसा? और, वहाँ निश्चयधर्म के साथ पूजा-दान-अणुव्रत आदि जो व्यवहार है उसे भी जो न स्वीकारे तो वह भी भूल है। जिस भूमिका में जिसप्रकार का निश्चय-व्यवहार होता है उसे बराबर स्वीकार करना चाहिये। व्यवहार के आश्रय से मोक्षमार्ग माने तो ही व्यवहार को स्वीकार किया कहा जाय—ऐसा श्रद्धान ठीक नहीं है। बहुत से ऐसा कहते हैं कि तुम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार के अवलम्बन से मोक्ष होना नहीं मानते, इसलिये तुम व्यवहार को ही नहीं मानते,—परन्तु यह बात बराबर नहीं है। जगत में तो स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीव-अजीव सब तत्त्व हैं, उनके आश्रय से लाभ माने तो ही उन्हें स्वीकार किया कहा जावे ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है; इसी प्रकार व्यवहार को भी समझना।

मुनिधर्म और श्रावकधर्म ऐसे दोनों प्रकार के धर्मों का भगवान ने उपदेश दिया है। इन दोनों धर्मों का मूल सम्यग्दर्शन है। वहाँ स्वोन्मुखता के बल द्वारा जितना राग दूर होकर शुद्धता प्रगट हुई उतना ही निश्चयधर्म है, और महाव्रत-अणुव्रत अथवा दान-पूजा आदि संबंधी जितना शुभराग रहा उतना उस भूमिका का असद्भूत व्यवहारनय से जानने योग्य व्यवहारधर्म है। धर्मी जीव स्वर्ग में जाता है वहाँ भी जिनेन्द्र-पूजन करता है, भगवान के समवसरण में जाता है, नन्दीश्वर द्वीप जाता है, भगवान के कल्याणक प्रसंगों को मनाने आता है,—ऐसे अनेक प्रकार के शुभकार्य करता है। देवलोक में धर्मी की आयु इतनी होती है कि देव के एक भव में तो असंख्य तीर्थंकरों के कल्याणक मनाये जाते हैं। इसलिये देवों को 'अमर' कहा जाता है।

देखो तो, जीव के परिणाम की शक्ति कितनी है! शुद्ध परिणाम करे तो दो घड़ी में केवलज्ञान प्राप्त करे; दो घड़ी के शुभपरिणाम द्वारा असंख्य वर्ष का पुण्य बँधे; और अज्ञान द्वारा तीव्र पाप करे तो दो घड़ी में असंख्य वर्ष तक नरक के दुःख को प्राप्त करे!—उदाहरणस्वरूप ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आयु कितनी? कि सात सौ (७००) वर्ष; इन सात सौ वर्षों की संख्यात सेकंड होती हैं। इतने काल में इसने नरक की तैंतीस सागरों की अर्थात् असंख्यात अरब वर्ष की आयुष बाँधी; अर्थात् एक एक सेकंड के पाप के फल में असंख्य अरब वर्ष के नरक का दुःख प्राप्त किया। पाप करते समय जीव को विचार नहीं रहता परन्तु इस नरक के दुःख की बात सुने तो घबराहट हो जाय। ये दुःख जो भोगता है—उसकी पीड़ा की तो क्या बात,—परन्तु इसका वर्णन सुनते ही अज्ञानी को भय पैदा हो जाय ऐसा है। इसलिये ऐसा अवसर प्राप्त करके जीव को चेतना चाहिये। जो चेतकर आत्मा की आराधना करे तो उसका फल महान है, जिस प्रकार पाप के एक सेकंड के फल में असंख्य वर्ष का नरक-दुःख कहा, उसी प्रकार साधकदशा के एक एक समय की आराधना के फल में अनन्त-काल का अनन्तगुना मोक्षसुख है। किसी जीव को साधकदशा का कुल काल असंख्य समय का ही होता है, संख्यात समय का नहीं होता, अथवा अनन्त समय का नहीं होता; और मोक्ष का काल तो सादि-अनन्त है अर्थात् एक-एक समय के साधकभाव के फल में अनन्तकाल का मोक्षसुख आया।—वाह, कैसा लाभ का व्यापार! भाई, तेरे आत्मा के शुद्धपरिणाम की शक्ति कितनी है—वह तो देख! ऐसे शुद्धपरिणाम से आत्मा जागृत हो तो क्षणमात्र में कर्मों को तोड़फोड़ कर मोक्ष को प्राप्त कर ले।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कोई जीव अन्तर्मुहूर्त ही मुनिपना पाले, और उस अन्तर्मुहूर्त में शुभपरिणाम से ऐसा पुण्य बाँधे कि नवमी ग्रैवेयक में इकतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव होता है। देखो, इस जीव के शुभ, अशुभ अथवा शुद्धपरिणाम की शक्ति और उसका फल! उसमें शुभ-अशुभ से स्वर्ग-नरक के भव तो अनन्तबार जीव ने किये, परन्तु शुद्धता प्रगट करके मोक्ष को साधे उसकी बलिहारी है!

कोई जीव देव में से सीधा देव नहीं होता।
कोई जीव देव में से सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकी में से सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकी में से सीधा देव नहीं होता।
देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच में उपजे।
नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंच में उपजे।
मनुष्य मरकर चारों में से कोई भी गति में उपजे।
तिर्यंच मरकर चारों में से कोई भी गति में उपजे।

यह सामान्य बात की; अब सम्यग्दृष्टि की बातः—

देव में से सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य में ही अवतरे।
नरक में से सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य में ही आवे।
मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में जावे, परन्तु
जो मिथ्यात्वदशा में आयु बंध गई हो तो
नरक अथवा तिर्यंच अथवा मनुष्य में भी जावे।
तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीव देवगति में ही जावे,

और पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक (तिर्यंच हो या मनुष्य)
वह तो नियम से स्वर्ग में ही जावे, अन्य किसी
गति का आयुष्य उसे नहीं होता।

इस प्रकार धर्मी श्रावक स्वर्ग में जाता है, और वहाँ से मनुष्य होकर, चौदह प्रकार का अन्तरंग और दस प्रकार का बाह्य—सर्व परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, शुद्धता की श्रेणी मांड़कर, सर्वज्ञ होकर सिद्धलोक को जाता है, वहाँ सदाकाल अनन्त आत्मिक आनन्द का भोग करता है। अहा, सिद्धों के आनन्द का क्या कहना!

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित अणुव्रतरूप श्रावकधर्म वह श्रावक को परम्परा से मोक्ष का कारण है, इसलिये श्रावक उस धर्म को अंगीकार करके उसका पालन करे —ऐसा उपदेश है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२५]

मोक्षमार्ग में निश्चयसहित व्यवहारधर्म मान्य है

भाई, उत्तम सुख का भंडार तो मोक्ष में है, इसलिये मोक्षपुरुषार्थ ही सब पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। साधक को मोक्षपुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है वह व्यवहार से मोक्ष का साधन है, इसलिये श्रावक की भूमिका में वह भी ग्रहण करने योग्य है। परन्तु मोक्ष के पुरुषार्थ बिना मात्र पुण्य (मात्र व्यवहार) की शोभा नहीं, इसका तो फल संसार है।

श्रावक पुण्यफल को प्राप्त करके मोक्ष पाता है ऐसा बताया। अब कहते हैं कि शुभराग होते हुए भी धर्मी को मोक्षपुरुषार्थ ही मुख्य है और वह उपादेय है; और उसके साथ का अणुव्रतादिरूप जो व्यवहारधर्म है वह भी मान्य है—

पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥ २५ ॥

धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में मात्र मोक्ष ही निश्चल-अविनाशी और सत्यसुखरूप है, शेष तीन तो इससे विपरीत स्वभाव वाले हैं अर्थात् अस्थिर और दुःखरूप हैं; अतः मुमुक्षु के लिये वे हेय हैं और केवल मोक्ष ही उपादेय है। तथा उस मोक्ष के साधनरूप वर्तता होवे वह धर्म भी हमें मान्य है—संमत है, अर्थात् मोक्षमार्ग को साधते साधते उसके साथ महाव्रत अथवा अणुव्रत के जो शुभभाव होते हैं वे तो संमत हैं, क्योंकि वे भी व्यवहार से मोक्ष के साधन हैं, परन्तु जो मात्र भोगादि के निमित्त हैं उन्हे तो पंडितजन पाप कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, सच्चा सुख तो एक मोक्षपद में ही है, अतः मुमुक्षुओं को उसका ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसके सिवाय अन्य भाव तो विपरीत होने से हेय हैं। देखिये, इसे विपरीत और हेय कहा उसमें शुभराग भी आ गया। इस प्रकार उसे विपरीत और हेयरूप में स्वीकार करके, पश्चात् यदि वह मोक्ष-मार्ग सहित होवे तो उसे मान्य किया है, अर्थात् व्यवहार से उसे मोक्षमार्ग में स्वीकार किया है। परन्तु जो साथ में निश्चय मोक्षसाधन (सम्यग्दर्शनादि) न होवे तो मोक्ष-मार्ग बिना ऐसे अकेले शुभराग को मान्य नहीं करते अर्थात् उसे व्यवहार मोक्षसाधन भी नहीं कह सकते। इसके सिवाय जो काम और अर्थ संबंधी पुरुषार्थ है वह तो पाप ही है, अतः सर्वथा हेय है।

भाई, उत्तम सुख का भंडार तो मोक्ष है; अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थ में श्रेष्ठ है। पुण्य का पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा हल्का है; और संसार के विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं वे तो एकदम पाप हैं, अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। अब साधक को पुरुषार्थ के साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है वह असद्भूत व्यवहार से मोक्ष का साधन है अतः श्रावक की भूमिका में वह भी व्यवहारनय के विषय में ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष का पुरुषार्थ तो सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु उसके अभाव में (अर्थात् निचली साधक दशा में) व्रत-महाव्रतादिरूप धर्मपुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये। अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते; पाप की अपेक्षा तो पुण्य भला ही है। परन्तु कहते हैं कि भाई, मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जिसे मोक्षमार्ग का लक्ष्य नहीं वह तो पुण्य के फल में मिले हुये भोगों में आसक्त होकर पुनः पाप में चला जावेगा। अतः बुधजन-ज्ञानी-विद्वान ऐसे पुण्य को परमार्थ से तो पाप कहते हैं। (देखो, योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा नं. ७१-७२, समयसार गा. १६३, पश्चात् श्री जयसेनाचार्य की सं. टीका में परिशिष्ट पुण्य-पाप अधिकार।)

मोक्ष में ही सच्चा सुख है ऐसा जो समझे वह राग में या पुण्यफल में सुख कैसे माने?—नहीं ही माने। जिसकी दृष्टि अकेले राग में है और उसके फल में जिसे सुख लगता है उसे तो शुभभाव के साथ भोग की अभिलाषा पड़ी है, अतः इस शुभ को मोक्षमार्ग में मान्य करते नहीं, मोक्ष के साधन का व्यवहार उसे लागू नहीं पड़ता। धर्मी को मोक्षमार्ग साधते साधते बीच में अभिलाषा रहित और श्रद्धा में हेयबुद्धि सहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्ष के साधन का व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुरू से ही जो राग को श्रद्धा में इष्ट मानकर अपनाता है वह राग से दूर कैसे होवेगा? और रागरहित मोक्षमार्ग में कहाँ से आवेगा? ऐसे जीव के शुभ को तो 'भोगहेतु धर्म' समयसार में कहा है, उसे 'मोक्षहेतु धर्म' नहीं कहते। मोक्ष के हेतुभूत सच्चे धर्म की अज्ञानी को पहचान भी नहीं, रागरहित ज्ञान क्या है उसे वह नहीं जानता, शुद्धज्ञान के अनुभव का उसे अभाव है इसलिये मोक्षमार्ग का उसे अभाव है। धर्मी को शुद्ध-ज्ञान के अनुभव सहित जो शुभराग शेष रहा उसे व्यवहार से धर्म, अथवा मोक्ष का साधन कहने में आता है।

नीचे की साधक भूमिका में ऐसा व्यवहार है जरूर, उसे जैसा है वैसा मानना चाहिये।—इसका अर्थ यह नहीं कि इसे ही उपादेय मानकर संतुष्ट हो जाना। वास्तव में उपादेय तो मोक्षार्थी को निश्चयरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग ही है, उसके साथ उस-उस भूमिका में जो व्यवहार होता है उसे व्यवहार में आदरणीय कहा जाता है। तीर्थंकरदेव का आदर करना, दर्शन-पूजन करना, मुनिवरों की भक्ति, आहारदान, स्वाध्याय, अहिंसादि व्रतों का पालन—ये सब व्यवहार हैं वह सत्य है, मान्य है, आदरणीय है, परन्तु निश्चयदृष्टि में शुद्धात्मा ही उपादेय है और उसके आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। ऐसी श्रद्धा प्रारम्भ से ही होनी चाहिये।

व्यवहार को एकान्त हेय कहकर कोई जीव देवदर्शन-पूजन-भक्ति, मुनि आदि धर्मात्मा का बहुमान, स्वाध्याय व्रतादि को छोड़ दे और अशुभ को सेवे वह तो स्वच्छन्दी और पापी है; शुद्धात्मा के अनुभव में लीनता होते ही ये सब व्यवहार छूट जाते हैं, परन्तु उसके पूर्व तो भूमिका के अनुसार व्यवहार के परिणाम होते हैं। शुद्ध-स्वरूप की दृष्टि और साथ में भूमिका अनुसार व्यवहार—यह दोनों साधक को साथ में होते हैं। मोक्षमार्ग में ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई एकान्त ग्रहण करे अर्थात् नीचे की भूमिका में भी व्यवहार को स्वीकार न करे अथवा निश्चय बिना उसे ही सर्वस्व मान ले तो वे दोनों मिथ्यादृष्टि हैं, एकान्तवादी हैं, और उन्हें निश्चय की अथवा व्यवहार की खबर नहीं।

नय और निक्षेप सम्यक्ज्ञान में होते हैं अर्थात् सम्यक्दृष्टि के ही वे सच्चे होते हैं। स्वभावदृष्टि हुई उस समय सम्यक् भावश्रुत हुआ, और उस समय प्रमाण और नय सच्चे हुए; बाद में निश्चय क्या और व्यवहार क्या—ऐसी उसको खबर पड़ती है। निश्चयसापेक्ष व्यवहार धर्मी को ही होता है; अज्ञानी को जो एकान्त व्यवहार है वह सच्चा मार्ग नहीं अथवा वह सच्चा व्यवहार नहीं। धर्मी जीव शुद्धता को साधते हुए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और बीच में भूमिकानुसार व्रतादि व्यवहार का पालन करते हुए अंत में अनंतसुख के भंडाररूप मोक्ष को साधते हैं। ऐसा मोक्षमार्ग ही मुमुक्षु का परम कर्तव्य है, अर्थात् वीतरागता कर्तव्य है; राग कर्तव्य नहीं। वीतरागता न हो वहाँ तक क्रमशः जितना राग घटे उतना घटाना प्रयोजनवान है। पहले ऐसी वीतरागी सम्यक्दृष्टि करे पीछे ही धर्म में चरण पड़ते हैं, इसके बिना तो, कलश-टीका में पंडित श्री राजमलजा कहते हैं, 'मर के चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, तथापि ऐसा करते हुए कर्म-क्षय तो नहीं होता'। देखिये, ३०० वर्ष पहले पंडित बनारसीदासजी ने श्री राजमलजी को 'समयसार नाटक के मरमी' कहा है।

श्रावकधर्म के मूल में भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्व सहित राग घटाने का जो उपदेश है वह हितकारी उपदेश है। भाई, किसी भी प्रकार जिनमार्ग को पाकर तू स्वद्रव्य के आश्रय के बल द्वारा राग घटा उसमें तेरा हित है; दान आदि का उपदेश भी उसी हेतु दिया गया है। कोई कहे कि खूब पैसा मिले तो उसमें से थोड़ा दान में लगाऊँ (दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ)—इसमें तो उलटी भावना हुई, लोभ का पोषण हुआ; पहले घर को आग लगा और पीछे कुआँ खोदकर उसके पानी से आग बुझाना—इसप्रकार की यह मूर्खता है। वर्तमान में पाप बाँधकर पीछे दानादि करने को कहता है, इसकी अपेक्षा वर्तमान में ही तू तृष्णा घटा ले ना भाई! एक बार आत्मा को जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा राग के फल कुछ नहीं चाहिये, आत्मा की शुद्धता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये।—ऐसी रुचि की दिशा पलटने से तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रगट हो जावेगी।

धर्मी को जहाँ आत्मा की अपूर्व दशा प्रगटी वहाँ उसे देह में भी एक प्रकार की अपूर्वता आ गई, क्योंकि सम्यक्त्व आदि में निमित्तभूत होवे ऐसी देह पूर्व में कभी नहीं मिली थी; अथवा सम्यक्त्वसहित का पुण्य जिसमें निमित्त हो ऐसी देह पूर्व में मिथ्यात्वदशा में कभी नहीं मिली थी। वाह, धर्मी का आत्मा अपूर्व, धर्मी का पुण्य भी अपूर्व और धर्मी का देह भी अपूर्व! धर्मी कहता है कि यह देह अंतिम है अर्थात् फिर से ऐसा (विराधकपना का) देह मिलने का नहीं; कदाचित् कुछ भव होंगे और देह मिलेंगे तो वे आराधकभाव सहित ही होंगे, अतः उसके रजकण भी पूर्व में न आये हों ऐसे अपूर्व होंगे, क्योंकि यहाँ जीव के भाव में (शुभ में भी) अपूर्वता आ गई है; धर्मी जीव की सभी बातें अलौकिक है। भक्तामर-स्तोत्र में मानतुंगस्वामी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान की भक्ति करते हुये कहते हैं कि हे प्रभो ! जगत में उत्कृष्ट शान्तरसरूप परिणमित जितने रजकण थे वे सब आपकी देहरूप परिणमित हो गये हैं !—इस कथन में गहन भाव भरे हैं। प्रभो, आपके केवलज्ञान की और चैतन्य के उपशमरस की तो अपूर्वता, और उसके साथ की परमऔदारिक देह में भी अपूर्वता,—ऐसी देह अन्य को नहीं होती। आराधक की सभी बात जगत से अनोखी है, इसकी आत्मा की शुद्धता भी जगत से अनोखी है और इसका पुण्य भी अनोखा है ।

इसप्रकार मोक्ष और पुण्यफल दोनों की बात की; फिर भी कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तुझे आदरणीय तो मोक्ष का ही पुरुषार्थ है; पुण्य तो इसका आनुषंगिक फल है अर्थात् अनाज के साथ के घास की तरह यह तो बीच में सहज ही आ जाता है। इसमें भी जहाँ हेयबुद्धि है वहाँ श्रावक के लिये पाप की तो बात ही कैसी ? इसप्रकार धर्मी श्रावक को मोक्षपुरुषार्थ की मुख्यता का उपदेश किया और उसके साथ पुण्य के शुभपरिणाम होते हैं यह भी बताया ।

* * *

अरे जीव ! तू सर्वज्ञ की और ज्ञान की प्रतीति बिना धर्म क्या करेगा ? राग में स्थित रहकर सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं होती; राग से जुदा पड़कर, ज्ञानरूप होकर, सर्वज्ञ की प्रतीति होती है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव के लक्षपूर्वक सर्वज्ञ की पहिचान करके उसके वचनानुसार धर्म की प्रवृत्ति होती है। सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी के जो वचन हैं वे भी सर्वज्ञ-अनुसार हैं, क्योंकि उसके हृदय में सर्वज्ञदेव विराज रहे हैं । जिसके हृदय में सर्वज्ञ न हो अर्थात् सर्वज्ञ को जो न मानता हो उसके धर्मवचन सच्चे नहीं होते। इसप्रकार सर्वज्ञ की पहचान धर्म का मूल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२६] मोक्ष की साधनासहित ही अणुव्रतादि की सफलता

हे भव्य ! तेरा साध्य मोक्ष है; अर्थात् व्रत अथवा महाव्रत के पालन में उस-उस प्रकार की अंतरंगशुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय-उसे तू लक्ष्य में रखना। मोक्ष के ध्येय को चूककर जो कुछ करने में आवे वह तो दुःख और संसार का ही कारण है।

धर्मी जीव को मोक्ष ही साध्यरूप है; मोक्षरूप साध्य को भूलकर जो अन्य का आदर करता है उसके व्रतादि भी संसार के ही कारण होते हैं—ऐसा अब कहते हैं—

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योत्र मोक्षः परं
नान्यत्किंचिदिहैव निश्चयनयात् जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमिद्दशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत् तत्दुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

यहाँ भव्य जीव को अणुव्रत अथवा महाव्रत द्वारा मात्र मोक्ष ही साध्य है, संसार संबंधी अन्य कोई भी साध्य नहीं, क्योंकि निश्चयनय से मोक्ष में ही जीव सुखी होता है। ऐसी बुद्धि अर्थात् मोक्ष की बुद्धि से जो व्रतादि करने में आते हैं वे सर्व सफल हैं; परन्तु इस मोक्षरूपी ध्येय को भूलकर जो व्रतादि करने में आते हैं वे तो संसार के कारण हैं और दुःख ही है।

देखो, अधिकार पूरा करते हुये अन्त में स्पष्ट करते हैं कि भाई, हमने श्रावक के धर्मरूप में पूजा-दान आदि अनेक शुभभावों का वर्णन किया तथा अणुव्रत आदि का वर्णन किया,—परन्तु उसमें जो शुभराग है उसे साध्य न मानना, उसको ध्येय न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानना, ध्येय और साध्य तो 'सम्पूर्ण वीतरागभावरूप' मोक्ष ही है, और वही परम सुख है। धर्मी की दृष्टि-रुचि राग में नहीं, उसे तो मोक्ष को साधने की ही भावना है; सच्चा सुख मोक्ष में ही है। राग में अथवा पुण्य के फल में कोई सुख नहीं। इसलिये हे भव्य! व्रत अथवा महाव्रत के पालने में उस-उस प्रकार की अन्तरंगशुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय—उसे तू लक्ष्य में रखना। शुद्धता के साथ-साथ जो व्रत-महाव्रत के परिणाम होते हैं वे मोक्षमार्ग के साथ निमित्त हैं, परन्तु जरा भी शुद्धता जिसे प्रगट नहीं और मात्र राग की भावना में ही रुक गया है उसका तो व्रतादि पालन करना भी संसार का कारण होता है और वह दुःख ही प्राप्त करता है। इसप्रकार मोक्षमार्ग के यथार्थ व्रत-महाव्रत सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं—यह बात इसमें आ गई। बीच में व्रत के परिणाम आवेंगे इससे पुण्य उच्चकोटि का बंधेगा और देवलोक का अचिन्त्य वैभव मिलेगा।—परन्तु हे मोक्षार्थी! तुझे इनमें किसी की रुचि अर्थात् भावना नहीं करनी है। भावना तो मोक्ष की ही करना कि कब यह राग तोड़कर मोक्षदशा प्राप्त हो, क्योंकि मोक्ष में आत्मिक सुख है, स्वर्ग के वैभव में सुख नहीं, वहाँ भी आकुलता के अंगारे हैं। धर्मी को भी स्वर्ग में जितना राग और विषय-तृष्णा का भाव है उतना क्लेश है धर्मी को उससे छूटने की भावना है। ऐसी भावना से मोक्ष के लिये जो व्रत-महाव्रत पालन करने में आवें वे सर्व सफल हैं और इससे विपरीत संसार के स्वर्गादि के सुख की भावना से जो कुछ करने में आवे वह दुःख का और भवभ्रमण का कारण है। इसलिये मोक्षार्थी भव्यों को आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करके वीतरागता की भावना से शक्तिअनुसार व्रत-महाव्रत करना चाहिये। जैसे, किसी ने इष्ट स्थान जाने का सच्चा मार्ग जान लिया है परन्तु चलने में थोड़ी देर लगती है तो भी वह मार्ग में ही है, उसी प्रकार धर्मी जीव ने वीतरागता का मार्ग देखा है, रागरहित स्वभाव को जाना है, परन्तु सर्वथा राग दूर करने में थोड़ा समय लगता है, तो भी वह मोक्ष के मार्ग में ही है। परन्तु जिसने सच्चा मार्ग नहीं जाना, विपरीत मार्ग माना है वह शुभराग करे तो भी संसार के मार्ग में है।

'निश्चय से वीतरागमार्ग ही मोक्ष का साधन है, शुभराग वास्तव में मोक्ष का साधन नहीं'—ऐसा कहने पर किसी को बात न रुचे तो कहते हैं कि भाई, हम अन्य क्या बतावें! वीतरागदेव द्वारा कहा हुआ सत्यमार्ग ही यह है। जिस प्रकार पद्मनन्दी स्वामी ब्रह्मचर्य-अष्टक में ब्रह्मचर्य का उत्तम वर्णन करके अंत में कहते हैं कि—जो मुमुक्षु है उसके लिये स्त्री-संग के निषेध का यह उपदेश मैंने दिया है, परन्तु जो जीव भोगरूपी राग के सागर में डूबे हुये हैं उन्हें इस ब्रह्मचर्य का उपदेश न रुचे तो वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे पर क्रोध न करें, क्योंकि मैं तो मुनि हूँ; मुनि के पास तो यही वीतरागी उपदेश होता है, कोई राग के पोषण की बात मुनि के पास नहीं होती। उसी प्रकार यहाँ मोक्ष के पुरुषार्थ में पुण्य का निषेध किया गया है, वहाँ राग की रुचिवाले किसी जीव को वह न रुचे तो क्षमा करना, क्योंकि संतों का उपदेश तो मोक्ष की प्रधानता का है इसलिये उसमें राग को आदरणीय कैसे कहा जाय? भाई, तुझसे संपूर्ण राग अभी चाहे न छूट सके, परन्तु यह छोड़ने योग्य है ऐसा सच्चा ध्येय तो पहले ही ठीक कर। ध्येय सच्चा होगा तो वहाँ पहुंचेगा। परन्तु ध्येय ही खोटा रखोगे—राग का ध्येय रखोगे तो राग तोड़कर वीतरागता कहाँ से लाओगे? अतः सत्यमार्ग वीतरागी संतों ने प्रसिद्ध किया है।

* * *

सर्वज्ञता को साधते-साधते वनविहारी संत पद्मनंदी मुनिराज ने यह शास्त्र रचा है, वे भी आत्मा की शक्ति में जो पूर्ण आनन्द भरा है उसकी प्रतीति करके उसमें लीन होकर बोलते थे, सिद्ध भगवान के साथ स्वानुभव द्वारा बात करते थे और सिद्धप्रभु जैसे अतीन्द्रिय-आनन्द का बहुत अनुभव करते थे, तब ही उन्होंने भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा है। उसमें कहते हैं कि अरे जीव! सबसे पहले तू सर्वज्ञदेव को पहिचान। सर्वज्ञदेव को पहिचानते ही तेरी सच्ची जाति तुझे पहिचानने में आ सकेगी।

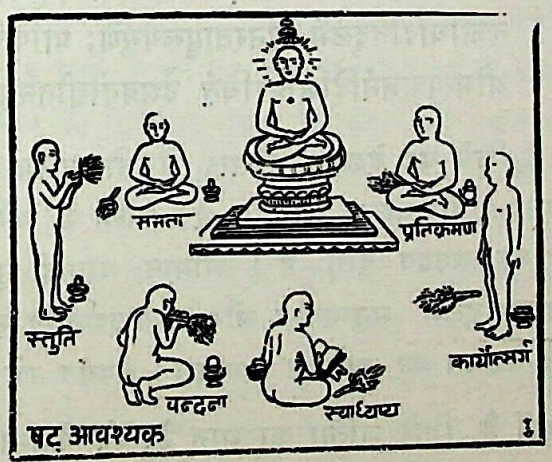

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

[२७]

श्रावकधर्म की आराधना का अंतिम फल—मोक्ष

श्रावकधर्म का अधिकार पूर्ण करते हुये मंगल आशीर्वाद पूर्वक श्री मुनिराज कहते हैं कि इस श्रावकधर्म का प्रकाश जयवंत रहो.... ऐसे धर्म के आराधक जीव जयवंत रहो! धर्म की आराधना द्वारा ही मनुष्यभव की सफलता है।

इस देशव्रत-उद्योतन अधिकार में श्री पद्मनंदी मुनिराज ने श्रावक के धर्म का बहुत वर्णन २६ गाथा में किया। अब अंतिम गाथा में आशीर्वाद पूर्वक अधिकार समाप्त करते हुये कहते हैं कि उत्तम कल्याण की परम्परा पूर्वक मोक्षफल देनेवाला यह देशव्रत का प्रकाश जयवन्त रहे—

यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पंकजनंदिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥ २७ ॥

धर्मी जीव के लिये यह देशव्रत संसार में तो उत्तम कल्याण की परम्परा (चक्रवर्तीपद, इन्द्रपद, तीर्थंकरपद आदि) देने वाला है और अंत में अनंतसुख का धाम ऐसे मोक्ष को अवश्य देता है। श्रीमान् पद्मनंदी मुनि ने जिसका वर्णन किया है, तथा उत्तम दुर्लभ मनुष्यपना और सम्यग्दर्शनादि गुण के द्वारा जिसकी प्राप्ति होती है, ऐसे देशव्रत का उद्योतन (प्रकाश) जयवंत रहे।

जो जीव धर्मी है, जिसे आत्मा का भान है, जो मोक्षमार्ग की साधना में तत्पर है उसे व्रत-महाव्रत के राग से ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि चक्रवर्तीपना, तीर्थंकरपना आदि लोकोत्तर पदवी मिल जाती है, पंचकल्याणक आदि की कल्याणपरम्परा उसे प्राप्त होती है, और अंत में राग तोड़कर वह मोक्ष पाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखो! यह मनुष्यपने की सफलता का उपाय! जीवन में जिसने धर्म का उल्लास नहीं किया, आत्महित के लिये रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोग के पापभाव में ही जीवन बिताया है वह तो निष्फल अवतार गुमाकर संसार में ही परिभ्रमण करता है। जबकि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महित का उपाय करता है, सम्यक्दर्शन सहित व्रतादि पालन करता है और स्वर्ग में जाकर वहाँ से मनुष्य होकर मुनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है।

भाई, ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्मा के संग का ऐसा योग संसार में बहुत दुर्लभ है; महाभाग्य से तुझे ऐसा सुयोग मिला है तो इसमें सर्वज्ञ की पहिचान कर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर। और उसके पश्चात् शक्तिअनुसार व्रत अंगीकार कर, दान आदि कर। उस दान का तो बहुत प्रकार का उपदेश दिया। वहाँ कोई कहे कि—आप दान की तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछे का (स्त्री-पुत्रादि का) कोई विचार करना या नहीं?—तो कहते हैं कि भाई, तू तनिक धीरज धर! जो तुझे आगे-पीछे का तेरा हित का सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा, वर्तमान में स्त्री-पुत्रादि के बहाने तू ममता में डूबा हुआ है और अपने भविष्य के हित का विचार नहीं करता। भविष्य में मैं मर जाऊंगा तो स्त्री-पुत्रादि का क्या होगा—इसप्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्य में तेरी आत्मा का क्या होगा—इसका विचार क्यों नहीं करता? अरे, राग तोड़कर समाधि करने का समय आया उसमें फिर आगे-पीछे का अन्य क्या विचार करना? जगत के जीवों को संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय अनुसार सबको हुआ करते हैं, ये कोई तेरे किये नहीं होते। इसलिये भाई, दूसरे का नाम लेकर तू अपनी ममता को मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयों की पूँजी हो परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदय का गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूँजी वाला भी जो धर्म-प्रसंग में तन-मन-धन उल्लासपूर्वक लगाता है वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है। सरकारी टेक्स (कर) आदि में परतंत्ररूप से देना पड़े उसे देवे परन्तु स्वयं ही धर्म के काम में होंशपूर्वक जीव खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, तुझे तेरी लक्ष्मी का सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्म की भक्ति करते नहीं आती और तुझे श्रावकधर्म का पालन करना नहीं आता, श्रावक तो देव-गुरु-धर्म के लिये उल्लासपूर्वक दानादि करता है। एक मनुष्य कहता है कि महाराज! मुझे व्यापार में २५ लाख रुपये मिलने वाले थे, परन्तु रुक गये, जो वे मिल जायँ तो उसमें से ५ लाख रुपये धर्मार्थ में देने का विचार था; इसलिये आशीर्वाद दीजिये! अरे मूर्ख! कैसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आशीर्वाद? क्या तेरे लोभ-पोषण के लिये ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें! ज्ञानी तो धर्म की आराधना को आशीर्वाद देते हैं। ५ लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तव में तो इसे २० लाख लेना है, और इसकी ममता पोषनी है। "जैसे कोई माने कि प्रथम जहर खा लूँ पीछे उसकी दवा करूँगा"—इसके जैसे तेरी मूर्खता है। तुझे वास्तव में धर्म का प्रेम हो और तुझे राग घटाना हो तो अभी तेरे पास जो है उसमें से राग घटा ना! तुझे राग घटाकर दान करना हो तो कौन तुझे रोकता है? भाई, ऐसा मनुष्यपना और ऐसा अवसर प्राप्त कर तू धन प्राप्त करने की तृष्णा के पाप में अपना जीवन नष्ट कर रहा है।—इसके बदले धर्म की आराधना कर। धर्म की आराधना द्वारा ही मनुष्यभव की सफलता है। धर्म की आराधना के बीच पुण्यफलरूप बड़े-बड़े निधान सहज ही मिल जावेंगे,—तुझे इसकी इच्छा ही नहीं करनी पड़ेगी।—'मांगे उसके दूर और त्यागे उसके आगे'—पुण्य की इच्छा करता है उसे पुण्य नहीं होता। मांगे उसके आगे अर्थात् कि दूर जाता है; और त्यागे उसके आगे अर्थात् जो पुण्य की रुचि छोड़कर चैतन्य को साधता है उसको पुण्य का वैभव समक्ष आता है। धर्मी जीव आत्मा का भान करके और पुण्य की अभिलाषा सर्वथा छोड़कर मोक्ष तरफ चलने लगा है, बहुत-सा रास्ता तय कर लिया है, थोड़ा शेष है, वहाँ पुरुषार्थ की मंदता से शुभराग हुआ अर्थात् स्वर्गादि का एक या दो उत्तम भवरूपी धर्मशाला में थोड़े समय रुकता है, उसे ऐसा ऊँचा पुण्य होता है कि जहाँ जन्मता है वहाँ समुद्र में मोती पकते हैं, आकाश में से रजकण उत्कृष्ट रत्नरूप परिणमन कर बरसते हैं, पथ्थर की खान में नीलमणि उत्पन्न होते हैं, राजा हो वहाँ उसे प्रजा से बर-जोरी कर आदि नहीं लेना पड़ता। परन्तु प्रजा स्वयं चलकर देने आती है, और संत-मुनि-धर्मात्माओं का समूह और तीर्थंकरदेव का संयोग मिलता है और संतों के सत्संग में पुनः आराधकभाव पुष्ट कर, राज-वैभव छोड़ मुनि होकर केवलज्ञान प्रगट कर साक्षात् मोक्ष प्राप्त करता है।

सर्वज्ञदेव की पहिचानपूर्वक श्रावक ने जो धर्म की आराधना की उसका यह उत्तम फल कहा है,—वह जयवंत हो...और उसे साधने वाले साधक जगत में जयवंत हों! —ऐसे आशीर्वाद सहित यह अधिकार समाप्त होता है।

(श्री पद्मनन्दीपच्चीसी के देशव्रत-उद्योतन पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन पूर्ण हुए।)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वतंत्रता की घोषणा

卐

[चार बोलों से स्वतंत्रता की घोषणा करता हुआ विशेष प्रवचन]

समयसार-कलश २११] [सं० २०२२ कार्तिक शुक्ला ३-४

☆

भगवान सर्वज्ञदेव का देखा हुआ वस्तुस्वभाव कैसा है, उसमें कर्त्ता-कर्मपना किसप्रकार है, वह अनेक प्रकार से दृष्टांत और युक्तिपूर्वक पुनः पुनः समझाते हुए, उस स्वभाव के निर्णय में मोक्षमार्ग किसप्रकार आता है वह पूज्य गुरुदेव ने इन प्रवचनों में बतलाया है। इनमें पुनः पुनः भेदज्ञान कराया है और वीतरागमार्ग के रहस्यभूत स्वतंत्रता की घोषणा करते हुए कहा है कि—सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए इस परमसत्य वीतराग-विज्ञान को जो समझेगा उसका अपूर्व कल्याण होगा।

卐

कर्त्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है, और अन्य के साथ उसका कर्ता-कर्म का सम्बन्ध नहीं है-इस सिद्धांत को आचार्यदेव ने चार बोलों से स्पष्ट समझाया है:—

(१) परिणाम अर्थात् पर्याय ही कर्म है-कार्य है।

(२) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं होते। क्योंकि परिणाम अपने-अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य) के आश्रय से होते हैं। अन्य के परिणाम अन्य के आश्रय से नहीं होते।

(३) कर्म कर्त्ता के बिना नहीं होता, अर्थात् परिणाम वस्तु के बिना नहीं होते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) वस्तु की निरन्तर एकसमान स्थिति नहीं रहती, क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है।

इसप्रकार आत्मा और जड़ सभी वस्तुएँ स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्त्ता हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप का महान सिद्धांत आचार्यदेव ने समझाया है और उसीका यह प्रवचन है। इस प्रवचन में अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करते हुए गुरुदेव ने भेदज्ञान को पुनः पुनः समझाया है।

* * *

देखो, इसमें वस्तुस्वरूप को चार बोलों द्वारा समझाया है। इस जगत में छह वस्तुएँ हैं, आत्मा अनंत हैं, पुद्गलपरमाणु अनंत हैं तथा धर्म, अधर्म, आकाश और काल,—ऐसी छहों प्रकार की वस्तुएँ और उनके स्वरूप का वास्तविक नियम क्या है? सिद्धान्त क्या है? उसे यहाँ चार बोलों में समझाया जा रहा है:—

(१) परिणाम ही कर्म है।

प्रथम तो 'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः' अर्थात् परिणामी वस्तु के जो परिणाम हैं वही निश्चय से उसका कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य; परिणाम अर्थात् अवस्था; पदार्थ की अवस्था ही वास्तव में उसका कर्म-कार्य है। परिणामी अर्थात् अखण्ड वस्तु; वह जिस भाव से परिणमन करे उसको परिणाम कहते हैं। परिणाम कहो, कार्य कहो, पर्याय कहो या कर्म कहो-वह वस्तु के परिणाम ही हैं।

जैसे कि— आत्मा ज्ञानगुणस्वरूप है; उसका परिणमन होने से जानने की पर्याय हुई वह उसका कर्म है, वह उसका वर्तमान कार्य है। राग या शरीर वह कोई ज्ञान का कार्य नहीं; परन्तु 'यह राग है, यह शरीर है'-ऐसा उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है वह आत्मा का कार्य है। आत्मा के परिणाम वह आत्मा का कर्म है और जड़ के परिणाम अर्थात् जड़ की अवस्था वह जड़ का कार्य है;—इस प्रकार एक बोल पूर्ण हुआ।

(२) परिणाम वस्तु का ही होता है, दूसरे का नहीं।

अब, इस दूसरे बोल में कहते हैं कि-जो परिणाम होता है वह परिणामी पदार्थ का ही होता है; परिणाम किसी अन्य के आश्रय से नहीं होता। जिस प्रकार श्रवण के समय जो ज्ञान होता है वह ज्ञान कार्य है-कर्म है। वह किसका कार्य है? वह कहीं शब्दों का कार्य नहीं है, परन्तु परिणामी वस्तु जो आत्मा है उसीका वह कार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। आत्मा परिणामी है—उसके बिना ज्ञानपरिणाम नहीं होता-यह सिद्धांत है; परन्तु वाणी के बिना ज्ञान नहीं होता—यह बात सच नहीं है। शब्दों के बिना ज्ञान नहीं होता—ऐसा नहीं, परन्तु आत्मा के बिना ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार परिणामी के आश्रय से ही ज्ञानादि परिणाम हैं।

देखो, यह महा सिद्धांत है, वस्तुस्वरूप का यह अबाधित नियम है।

परिणामी के आश्रय से ही उसके परिणाम होते हैं। जानने वाला आत्मा वह परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्मा के हैं, वाणी के नहीं। वाणी के रजकणों के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं होते, परन्तु ज्ञान-स्वभावी आत्मवस्तु के आश्रय से वे परिणाम होते हैं। आत्मा त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं रूपांतर होकर नवीन-नवीन अवस्थाओं को धारण करता है। उसके ज्ञान-आनन्द इत्यादि जो वर्तमान भाव हैं वे उसके परिणाम हैं।

'परिणाम' परिणामी के ही हैं अन्य के नहीं,—इसमें जगत के सभी पदार्थों का नियम आ जाता है। परिणाम परिणामी के ही आश्रित होते हैं, अन्य के आश्रित नहीं होते। ज्ञानपरिणाम आत्मा के आश्रित हैं, भाषा आदि अन्य के आश्रित ज्ञान के परिणाम नहीं हैं। इसलिये इसमें पर की ओर देखना नहीं रहता; परन्तु अपनी वस्तु के सामने देखकर स्वसन्मुख परिणमन करना रहता है; उसमें मोक्षमार्ग आजाता है।

वाणी तो अनन्त जड़-परमाणुओं की अवस्था है, वह अपने परमाणुओं के आश्रित है। बोलने की जो इच्छा हुई उसके आश्रित भाषा के परिणाम तीनकाल में नहीं हैं। जब इच्छा हुई और भाषा निकली उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा के आश्रय से हुआ है। भाषा के आश्रय से तथा इच्छा के आश्रय से ज्ञान नहीं हुआ है।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते,—इसप्रकार अस्ति-नास्ति से अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है। सत्य के सिद्धांत की अर्थात् वस्तु के सत्स्वरूप की यह बात है, उसको पहिचाने बिना मूढ़ता पूर्वक अज्ञानता में ही जीवन पूर्ण कर डालता है। परन्तु भाई! आत्मा क्या? जड़ क्या? उसकी भिन्नता समझकर वस्तुस्वरूप के वास्तविक सत् को समझे बिना ज्ञान में सत्पना नहीं आता, अर्थात् सम्यक्ज्ञान नहीं होता, वस्तुस्वरूप के सत्यज्ञान के बिना रुचि और श्रद्धा भी सच्ची नहीं होती, और सच्ची श्रद्धा के बिना वस्तु में स्थिरतारूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र प्रगट नहीं होता, शांति नहीं होती, समाधान और सुख नहीं होता। इसलिये वस्तुस्वरूप क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये। वस्तुस्वरूप को समझने से मेरे परिणाम पर से और पर के परिणाम मुझसे —ऐसी पराश्रित बुद्धि नहीं रहती अर्थात् स्वाश्रित-स्वसन्मुख परिणाम प्रगट होता है, यही धर्म है।

आत्मा को जो ज्ञान होता है उसको जानने के परिणाम आत्मा के आश्रित हैं, वे परिणाम वाणी के आश्रय से नहीं हुए हैं, कान के आश्रय से नहीं हुए हैं, तथा उस समय की इच्छा के आश्रय से भी नहीं हुए हैं। यद्यपि इच्छा भी आत्मा के परिणाम हैं, परन्तु उन परिणामों के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं हैं, ज्ञानपरिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हैं;-इसलिये वस्तुसन्मुख दृष्टि कर।

बोलने की इच्छा हो, होंठ हिलें, भाषा निकले और उस समय उसप्रकार का ज्ञान हो,—ऐसी चारों क्रियाएँ एकसाथ होते हुये भी कोई क्रिया किसी के आश्रित नहीं, सभी अपने-अपने परिणामी के ही आश्रित हैं। इच्छा वह आत्मा के चारित्रगुण के परिणाम हैं, होंठ हिले वह होंठ के रजकणों की अवस्था है, वह अवस्था इच्छा के आधार से नहीं हुई। भाषा प्रगट हो वह भाषावर्गणा के रजकणों की अवस्था है वह अवस्था इच्छा के आश्रित या होंठ के आश्रित नहीं हुई, परन्तु परिणामी ऐसे रजकणों के आश्रय से वह भाषा उत्पन्न हुई है और उस समय का ज्ञान आत्मवस्तु के आश्रित है, इच्छा अथवा भाषा के आश्रित नहीं है,—ऐसा वस्तुस्वरूप है।

भाई, तीनकाल तीनलोक में सर्वज्ञ भगवान का देखा हुआ यह वस्तुस्वभाव है; उसे जाने बिना और समझने की परवाह बिना अंधे की भाँति चला जाता है, परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान के बिना किसी प्रकार कहीं भी कल्याण नहीं हो सकता। इस वस्तुस्वरूप को बारम्बार लक्ष में लेकर परिणामों में भेदज्ञान करने के लिये यह बात है। एक वस्तु के परिणाम अन्य वस्तु के आश्रित तो हैं नहीं, परन्तु उस वस्तु में भी उसके एक परिणाम के आश्रित दूसरे परिणाम नहीं हैं। परिणामी वस्तु के आश्रित ही परिणाम हैं।-यह महान सिद्धान्त है।

प्रतिक्षण इच्छा, भाषा और ज्ञान यह तीनों एकसाथ होते हुए भी इच्छा और ज्ञान जीव के आश्रित हैं और भाषा वह जड़ के आश्रित है; इच्छा के कारण भाषा हुई और भाषा के कारण ज्ञान हुआ-ऐसा नहीं; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं। इच्छा और ज्ञान-यह दोनों हैं तो आत्मा के परिणाम तथापि एक के आश्रित दूसरे के परिणाम नहीं हैं। ज्ञानपरिणाम और इच्छापरिणाम दोनों भिन-भिन्न हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान वह इच्छा का कार्य नहीं है और इच्छा वह ज्ञान का कार्य नहीं है। जहाँ ज्ञान का कार्य इच्छा भी नहीं, वहाँ जड़ भाषा आदि तो उसका कार्य कहाँ से हो सकता है? वह तो जड़ का कार्य है।

जगत में जो भी कार्य होते हैं वह सत् की अवस्था होती है, किसी वस्तु के परिणाम होते हैं, परन्तु वस्तु के बिना अधर से परिणाम नहीं होते। परिणामी का परिणाम होता है, नित्यस्थित वस्तु के आश्रित परिणाम होते हैं, पर के आश्रित नहीं होते।

परमाणु में होंठों का हिलना और भाषा का परिणमन—यह दोनों भी भिन्न वस्तु हैं। आत्मा में इच्छा और ज्ञान-यह दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलने के आश्रित भाषा की पर्याय नहीं है। होंठ का हिलना वह होंठ के पुद्गलों के आश्रित है, भाषा का परिणमन वह भाषा के पुद्गलों के आश्रित है।

होंठ और भाषा, इच्छा और ज्ञान,

—इन चारों का काल एक होने पर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान-यह दोनों परिणाम आत्माश्रित होने पर भी इच्छा-परिणाम के आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है। ज्ञान वह आत्मा का परिणाम है, इच्छा का नहीं; इसी प्रकार इच्छा वह आत्मा का परिणाम है, ज्ञान का नहीं। इच्छा को जानने वाला ज्ञान वह इच्छा का कार्य नहीं है, उसी प्रकार वह ज्ञान इच्छा को उत्पन्न नहीं करता। इच्छा-परिणाम आत्मा का कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञान का कार्य नहीं। भिन्न-भिन्न गुण के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं, एक ही द्रव्य में होने पर भी एक गुण के आश्रित दूसरे गुण के परिणाम नहीं हैं।

कितनी स्वतंत्रता!! और इसमें पर के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही?

आत्मा में चारित्रगुण इत्यादि अनंतगुण हैं, उनमें चारित्र के विकृत परिणाम सो इच्छा है, वह चारित्रगुण के आश्रित है, और उस समय उस इच्छा का ज्ञान हुआ वह ज्ञानगुणरूप परिणामी के परिणाम हैं, वह कहीं इच्छा के परिणाम के आश्रित नहीं हैं। इसप्रकार इच्छापरिणाम और ज्ञानपरिणाम दोनों का भिन्न परिणमन है, एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

सत् जैसा है उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो, और सत् का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थ का आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और उसमें स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। सत् से विपरीत ज्ञान करे तो धर्म नहीं होता। स्व में स्थिरता ही मूल धर्म है, परन्तु वस्तुस्वरूप के सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा?

आत्मा और शरीरादि रजकण भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं; शरीर की अवस्था, हलन-चलन-बोलना, वह उसके परिणामी पुद्गलों का परिणाम है, उन पुद्गलों के आश्रित वह परिणाम उत्पन्न हुए हैं, इच्छा के आश्रित नहीं; उसी प्रकार इच्छा के आश्रित ज्ञान भी नहीं। पुद्गल के परिणाम आत्मा के आश्रित मानना, और आत्मा के परिणाम पुद्गलाश्रित मानना, उसमें तो विपरीत मान्यतारूप मूढ़ता है।

जगत में भी जो वस्तु जैसी हो उससे विपरीत बतलानेवाले को लोग मूर्ख कहते हैं, तो फिर सर्वज्ञकथित यह लोकोत्तर वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा न मानकर विरुद्ध माने तो वह लोकोत्तर मूर्ख और अविवेकी है, विवेकी और विचक्षण कब कहा जाय? कि वस्तु के जो परिणाम हुए उसे कार्य मानकर, उसे परिणामी-वस्तु के आश्रित समझे और दूसरे के आश्रित न माने, तब स्व-पर का भेदज्ञान होता है, और तभी विवेकी है ऐसा कहने में आता है। आत्मा के परिणाम पर के आश्रय से नहीं होते। विकारी और अविकारी जो भी परिणाम जिस वस्तु के हैं वह उसी वस्तु के आश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं।

पदार्थ के परिणाम वही उसका कार्य है—यह एक बात; दूसरी बात यह कि वह परिणाम उसी वस्तु के आश्रय से होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते।—यह नियम जगत के समस्त पदार्थों में लागू होते हैं।

देखो, भाई! यह तो भेदज्ञान के लिये वस्तुस्वभाव के नियम बतलाये गये हैं। धीरे-धीरे दृष्टांत से, युक्ति से वस्तुस्वरूप सिद्ध किया जाता है।

किसीको ऐसे भाव उत्पन्न हुए कि सौ रुपये दान में दूँ, उसके वह परिणाम आत्मवस्तु के आश्रित हुए हैं; वहाँ रुपये जाने की जो क्रिया होती है वह रुपये के रजकणों के आश्रित है, जीव की इच्छा के आश्रित नहीं। अब उस समय उन रुपयों की क्रिया का ज्ञान, अथवा इच्छा के भाव का ज्ञान होता है वह ज्ञानपरिणाम आत्माश्रित हुआ है-इस प्रकार परिणामों का विभाजन करके वस्तुस्वरूप का ज्ञान करना चाहिये।

भाई, तेरा ज्ञान और तेरी इच्छा, यह दोनों परिणाम आत्मा में होते हुए भी वे एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं, तो फिर पर के आश्रय की तो बात ही कहाँ रही?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दान की इच्छा हुई और रुपये दिये गये, वहाँ रुपये जाने की क्रिया भी हाथ के आश्रित नहीं, हाथ का हिलना इच्छा के आश्रित नहीं, और इच्छा का परिणमन वह ज्ञान के आश्रित नहीं है। सभी अपने-अपने आश्रयभूत वस्तु के आधार से हैं।

देखो, यह सर्वज्ञ के विज्ञानपाठ हैं; ऐसा वस्तुस्वरूप का ज्ञान सच्चा पदार्थविज्ञान है। जगत के पदार्थों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे सदा एकरूप नहीं रहते, परन्तु परिणमन करके नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य किया करते हैं,—यह बात चौथे बोल में कही जायगी। जगत के पदार्थों का स्वभाव ऐसा है कि वह नित्यस्थायी रहे और उसमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थारूप कार्य उसके अपने आश्रित हुआ करे। वस्तु-स्वभाव का ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

जीव को इच्छा हुई इसलिये हाथ हिला और सौ रुपये दिये गये—ऐसा नहीं है।

इच्छा का आधार आत्मा है, हाथ और रुपयों का आधार परमाणु है।

रुपये जाना थे इसलिये इच्छा हुई ऐसा भी नहीं है।

हाथ का हलन-चलन वह हाथ के परमाणुओं के आधार से है।

रुपयों का आना-जाना वह रुपयों के परमाणुओं के आधार से है।

इच्छा का होना वह आत्मा के चारित्रगुण के आधार से है।

यह तो भिन्न-भिन्न द्रव्य के परिणाम की भिन्नता की बात हुई; यहाँ तो उससे भी आगे अन्तर की बात लेना है। एक ही द्रव्य के अनेक परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं ऐसा बतलाना है। राग और ज्ञान दोनों के कार्य भिन्न हैं, एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं।

किसीने गाली दी और जीव को द्वेष के पाप-परिणाम हुए, वहाँ वे पाप के परिणाम प्रतिकूलता के कारण नहीं हुए, और गाली देने वाले के आश्रित भी नहीं हुए, परन्तु चारित्रगुण के आश्रित हुए हैं, चारित्रगुण ने उस समय उस परिणाम के अनुसार परिणमन किया है। अन्य तो निमित्तमात्र हैं।

अब द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ कि 'मुझे यह द्वेष हुआ'—यह ज्ञानपरिणाम ज्ञानगुण के आश्रित है, क्रोध के आश्रित नहीं है। ज्ञानस्वभावी द्रव्य के आश्रित ज्ञान-परिणाम होते हैं, अन्य के आश्रित नहीं होते। इसीप्रकार सम्यग्दर्शन परिणाम सम्यग्ज्ञान परिणाम, आनन्द परिणाम इत्यादि में भी ऐसा ही समझना। यह ज्ञानादि परिणाम द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं हैं, तथा परस्पर एक-दूसरे के आश्रित भी नहीं हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाली के शब्द अथवा द्वेष के समय उसका ज्ञान हुआ, वह ज्ञान शब्दों के आश्रित नहीं और क्रोध के आश्रित भी नहीं है, उसका आधार तो ज्ञानस्वभावी वस्तु है,-इसलिये उसके ऊपर दृष्टि लगा तो तेरी पर्याय में मोक्षमार्ग प्रगट हो; इस मोक्षमार्गरूपी कार्य का कर्ता भी तू ही है, अन्य कोई नहीं।

अहो, यह तो सुगम और स्पष्ट बात है। लौकिक पढ़ाई अधिक न की हो, तथापि यह समझ में आजाये ऐसा है। जरा अन्तर में उतरकर लक्ष में लेना चाहिये कि आत्मा अस्तिरूप है, उसमें अनंतगुण हैं; ज्ञान है, आनन्द है, श्रद्धा है, अस्तित्व है, इसप्रकार अनंतगुण हैं। इन अनन्तगुणों के भिन्न-भिन्न अनन्त परिणाम प्रतिसमय होते हैं, उन सभी का आधार परिणामी ऐसा आत्मद्रव्य है, अन्य वस्तु तो उसका आधार नहीं है, परन्तु अपने में दूसरे गुणों के परिणाम भी उसका आधार नहीं हैं,—जैसे कि-श्रद्धापरिणाम का आधार ज्ञानपरिणाम नहीं है और ज्ञानपरिणाम का आधार श्रद्धा नहीं; दोनों परिणामों का आधार आत्मा ही है। उसीप्रकार सर्व गुणों के परिणामों के लिये समझना। इसप्रकार परिणाम परिणामी का ही है, अन्य का नहीं।

इस २११वें कलश में आचार्यदेव द्वारा कहे गये वस्तुस्वरूप के चार बोलों में से अभी दूसरे बोल का विवेचन चल रहा है। प्रथम तो कहा कि 'परिणाम एव किल कर्म' और फिर कहा कि 'स भवति परिणामिन एव, न अपरस्य भवेत्' परिणाम ही कर्म है, और वह परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं;-ऐसा निर्णय करके स्वद्रव्यसन्मुख लक्ष जाने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।

सम्यग्दर्शन परिणाम हुए वह आत्मा का कर्म है, वह आत्मारूप परिणामी के आधार से हुए हैं। पूर्व के मंदराग के आश्रय से अथवा वर्तमान में शुभराग के आश्रय से वे सम्यग्दर्शन परिणाम नहीं हुए। यद्यपि राग भी है तो आत्मा का परिणाम, परन्तु श्रद्धापरिणाम से रागपरिणाम अन्य हैं, वे श्रद्धा के परिणाम राग के आश्रित नहीं हैं। क्योंकि परिणाम परिणामी के ही आश्रय से होते हैं, अन्य के आश्रय से नहीं होते।

उसीप्रकार अब चारित्रपरिणाम में—आत्मस्वरूप में स्थिरता वह चारित्र का कार्य है; वह कार्य श्रद्धा परिणाम के आश्रित नहीं, ज्ञान के आश्रित नहीं, परन्तु चारित्रगुण धारण करने वाले आत्मा के ही आश्रित है। शरीरादि के आश्रय से चारित्र नहीं है।

श्रद्धा के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं;
ज्ञान के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं;
स्थिरता के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं;
आनन्द के परिणाम आत्मद्रव्य के आश्रित हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बस, मोक्षमार्ग के सभी परिणाम स्वद्रव्याश्रित हैं, अन्य के आश्रित नहीं हैं; उस समय अन्य (रागादि) परिणाम होते हैं उनके आश्रित भी यह परिणाम नहीं हैं। एक समय में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनंत गुणों के परिणाम वह धर्म, उसका आधार धर्मी अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु है; उस समय अन्य जो अनेक परिणाम होते हैं उनके आधार से श्रद्धा इत्यादि के परिणाम नहीं हैं। निमित्तादि के आधार से तो नहीं हैं, परन्तु अपने दूसरे परिणाम के आधार से भी कोई परिणाम नहीं है। एक ही द्रव्य में एकसाथ होने वाले परिणामों में भी एक परिणाम दूसरे परिणाम के आश्रित नहीं; द्रव्य के ही आश्रित सभी परिणाम हैं, सभी परिणामोंरूप से परिणमन करने वाला द्रव्य ही है-अर्थात् द्रव्यसन्मुख लक्ष जाते ही सम्यक् पर्यायें प्रगट होने लगती हैं।

वाह! देखो, आचार्यदेव की शैली थोड़े में बहुत समा देने की है। चार बोलों के इस महान सिद्धांत में वस्तुस्वरूप के बहुत से नियमों का समावेश हो जाता है। यह त्रिकाल सत्य का सर्वज्ञ द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धांत है। अहो, यह परिणामी के परिणाम की स्वाधीनता, सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ वस्तुस्वरूप का तत्त्व, सन्तों ने इसका विस्तार करके आश्चर्यकारी कार्य किया है, पदार्थ का पृथक्करण करके भेदज्ञान कराया है। अंतर में इसका मंथन करके देखे तो मालूम हो कि अनंत सर्वज्ञों तथा संतों ने ऐसा ही वस्तुस्वरूप कहा है और ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

सर्वज्ञ भगवंत दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा तत्त्व कहते आये हैं-ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; दिव्यध्वनि तो परमाणुओं के आश्रित है।

कोई कहे कि अरे, दिव्यध्वनि भी परमाणु-आश्रित है? हाँ, दिव्यध्वनि वह पुद्गल का परिणाम है, और पुद्गलपरिणाम का आधार तो पुद्गल द्रव्य ही होता है; जीव उसका आधार नहीं हो सकता। भगवान का आत्मा तो अपने केवलज्ञानादि का आधार है। भगवान का आत्मा तो केवलज्ञान-दर्शन-सुख इत्यादि निज-परिणामरूप परिणमन करता है, परन्तु कहीं देह और वाणीरूप अवस्था धारण करके भगवान का आत्मा परिणमित नहीं होता, उसरूप तो पुद्गल ही परिणमित होता है। परिणाम परिणामी के होते हैं, अन्य के नहीं।

भगवान की सर्वज्ञता के आधार से दिव्यध्वनि के परिणाम हुए-ऐसा वस्तुस्वरूप नहीं है। भाषापरिणाम अनंत पुद्गलाश्रित है, और सर्वज्ञता आदि परिणाम जीवाश्रित हैं; इसप्रकार दोनों की भिन्नता है। कोई किसीका कर्ता या आधार नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखो, यह भगवान आत्मा की अपनी बात है। समझ में नहीं आयगी, ऐसा नहीं मानना; अंतर्लक्ष करे तो समझ में आये-ऐसी सरल है। देखो, लक्ष में लो कि अंदर कोई वस्तु है या नहीं? और यह जो जानने के या रागादि के भाव होते हैं इन भावों का कर्ता कौन है? आत्मा स्वयं उनका कर्ता है।-इसप्रकार आत्मा को लक्ष में लेने के लिये दूसरी पढ़ाई की कहाँ आवश्यकता है? दुनिया की बेगार करके दुःखी होता है उसके बदले वस्तुस्वभाव को समझे तो कल्याण हो जाये। अरे जीव! ऐसे सरस न्यायों द्वारा सतों ने वस्तुस्वरूप समझाया है, उसे तू समझ।

वस्तुस्वरूप के दो बोल हुए। अब तीसरा बोलः—

(३) कर्त्ता के बिना कर्म नहीं होता

कर्ता अर्थात् परिणमित होनेवाली वस्तु और कर्म अर्थात् उसकी अवस्थारूप कार्य; कर्ता के बिना कर्म नहीं होता; अर्थात् वस्तु के बिना पर्याय नहीं होती; सर्वथा शून्य में से कोई कार्य उत्पन्न हो जाये ऐसा नहीं होता।

देखो, यह वस्तुविज्ञान के महा सिद्धान्त! इस २११वें कलश में चार बोलों द्वारा चारों पक्षों से स्वतंत्रता सिद्ध की है। विदेशों में अज्ञान की पढ़ाई के पीछे हैरान होते हैं, उसकी अपेक्षा सर्वज्ञदेव कथित इस परमसत्य वीतरागी विज्ञान को समझे तो अपूर्व कल्याण हो।

(१) परिणाम सो कर्म; यह एक बात।

(२) वह परिणाम किसका?-कि परिणामी वस्तु का परिणाम है, दूसरे का नहीं। यह दूसरा बोल; इसका बहुत विस्तार किया है।

अब इस तीसरे बोल में कहते हैं कि—परिणामी के बिना परिणाम नहीं होता। परिणामी वस्तु से भिन्न अन्यत्र कहीं परिणाम हो ऐसा नहीं होता। परिणामी वस्तु में ही उसके परिणाम होते हैं, इसलिये परिणामी वस्तु वह कर्ता है, उसके बिना कार्य नहीं होता। देखो, इसमें निमित्त के बिना कार्य नहीं होता—ऐसा नहीं कहा। निमित्त निमित्तमें रहता है, वह कहीं इस कार्य में नहीं आ जाता; इसलिये निमित्त के बिना कार्य है परन्तु परिणामी के बिना कार्य नहीं होता। निमित्त भले हो, परन्तु उसका अस्तित्व तो निमित्त में है, इस में उसका अस्तित्व नहीं है। परिणामी वस्तु की सत्ता में ही उसका कार्य होता है। आत्मा के बिना सम्यक्त्वादि परिणाम नहीं होते। अपने समस्त परिणामों का कर्त्ता आत्मा है, उसके बिना कर्म नहीं होता। "कर्म कर्तृशून्यं न भवति"—प्रत्येक पदार्थ की अवस्था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस-उस पदार्थ के बिना नहीं होती। सोना नहीं है और गहने बन गये, वस्तु नहीं है और अवस्था हो गई—ऐसा नहीं हो सकता। अवस्था है वह त्रैकालिक वस्तु को प्रगट करती है-प्रसिद्ध करती है कि यह अवस्था इस वस्तु की है।

जैसे कि—जड़कर्मरूप पुद्गल होते हैं, वे कर्मपरिणाम कर्ता के बिना नहीं होते। अब उनका कर्त्ता कौन?-तो कहते हैं कि-उस पुद्गलकर्मरूप परिणमित होने वाले रजकण ही कर्ता हैं; आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

—आत्मा कर्ता होकर जड़कर्म का बंध करे-ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

—जड़कर्म आत्मा को विकार करायें-ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

—मंदकषाय के परिणाम सम्यक्त्व का आधार हों—ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

—शुभराग से क्षायिकसम्यक्त्व हो—ऐसा वस्तुस्वरूप में नहीं है।

तथापि अज्ञानी ऐसा मानता है—यह सब तो विपरीत है-अन्याय है। भाई, तेरे यह अन्याय वस्तुस्वरूप में सहन नहीं होंगे। वस्तुस्वरूप को विपरीत मानने से तेरे आत्मा को बहुत दुःख होगा,-ऐसी करुणा सन्तों को आती है। सन्त नहीं चाहते कि कोई जीव दुःखी हो। जगत के सारे जीव सत्यस्वरूप को समझें और दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें—ऐसी उनकी भावना है।

भाई! तेरे सम्यग्दर्शन का आधार तेरा आत्मद्रव्य है। शुभराग कहीं उसका आधार नहीं है। मन्दराग वह कर्ता और सम्यग्दर्शन उसका कार्य ऐसा त्रिकाल में नहीं है। वस्तु का जो स्वरूप है वह तीनकाल में आगे-पीछे नहीं हो सकता। कोई जीव अज्ञान से उसे विपरीत माने उससे कहीं सत्य बदल नहीं जाता। कोई समझे या न समझे, सत्य तो सदा सत्यरूप ही रहेगा, वह कभी बदलेगा नहीं। जो उसे यथावत् समझेंगे वे अपना कल्याण कर लेंगे और जो नहीं समझेंगे उनकी तो बात ही क्या? वे तो संसार में भटक ही रहे हैं।

देखो, वाणी सुनी इसलिये ज्ञान होता है न! परन्तु सोनगढ़ वाले इन्कार करते हैं कि 'वाणी के आधार से ज्ञान नहीं होता;'-ऐसा कहकर कुछ लोग कटाक्ष करते हैं, लेकिन भाई! यह तो वस्तुस्वरूप है; त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ परमात्मा भी दिव्य-ध्वनि में यही कहते हैं कि—ज्ञान आत्मा के आश्रय से होता है, ज्ञान वह आत्मा का कार्य है, दिव्यध्वनि के परमाणु का वह कार्य नहीं है। ज्ञानकार्य का कर्ता आत्मा है न कि वाणी के रजकण? जिस पदार्थ के जिस गुण का जो वर्तमान हो वह अन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदार्थ के या अन्य गुण के आश्रय से नहीं होता। उसका कर्ता कौन?-कि वस्तु स्वयं। कर्ता और उसका कार्य दोनों एक ही वस्तु में होने का नियम है, वे भिन्न वस्तु में नहीं होते।

यह लकड़ी ऊपर उठी सो कार्य है; यह किसका कार्य है?-कि कर्ता का कार्य; कर्ता के बिना कार्य नहीं होता। कर्ता कौन है?-कि लकड़ी के रजकण ही लकड़ी की इस अवस्था के कर्ता हैं; यह हाथ, अँगुली या इच्छा उसके कर्ता नहीं हैं।

अब अन्तर का सूक्ष्म दृष्टान्त लें तो—किसी आत्मा में इच्छा और सम्यग्ज्ञान दोनों परिणाम वर्तते हैं; वहाँ इच्छा के आधार से सम्यग्ज्ञान नहीं है। इच्छा सम्यग्ज्ञान की कर्ता नहीं है। आत्मा ही कर्ता होकर उस कार्य को करता है। कर्ता के बिना कर्म नहीं है और दूसरा कोई कर्ता नहीं है; इसलिये जीवकर्ता द्वारा ज्ञानकार्य होता है। इस प्रकार समस्त पदार्थों के सर्व कार्यों में उस-उस पदार्थ का ही कर्तापना है ऐसा समझना चाहिये।

देखो भाई, यह तो सर्वज्ञ भगवान के घर की बात है; उसे सुनकर सन्तुष्ट होना चाहिये। अहा! सन्तों ने वस्तुस्वरूप समझाकर मार्ग स्पष्ट कर दिया है; संतों ने सारा मार्ग सरल और सुगम बना दिया है, उसमें बीच में कहीं अटकना पड़े ऐसा नहीं है। पर से भिन्न ऐसा स्पष्ट वस्तुस्वरूप समझे तो मोक्ष हो जाये। बाहर से तथा अन्तर से ऐसा भेदज्ञान समझने पर मोक्ष हथेली में आ जाता है। मैं तो पर से पृथक् हूँ और मुझमें एक गुण का कार्य दूसरे गुण से नहीं है-यह महान सिद्धान्त समझने पर स्वाश्रयभाव से अपूर्व कल्याण प्रगट होता है।

कर्म अपने कर्ता के बिना नहीं होता—यह बात तीसरे बोल में कही; और चौथे बोल में कर्ता की (-वस्तु की) स्थिति एकरूप अर्थात् सदा एक-समान नहीं होती परन्तु वह नये-नये परिणामोंरूप से बदलता रहता है-यह बात कहेंगे। हर बार प्रवचन में इस चौथे बोल का विशेष विस्तार होता है; इस बार दूसरे बोल का विशेष विस्तार आया।

कर्ता के बिना कार्य नहीं होता यह सिद्धान्त है; वहाँ कोई कहे कि यह जगत सो कार्य है और ईश्वर उसका कर्ता है, तो यह बात वस्तुस्वरूप की नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वयं ही अपनी पर्याय का ईश्वर है और वही कर्ता है, उससे भिन्न दूसरा कोई ईश्वर या अन्य कोई पदार्थ कर्ता नहीं है। पर्याय सो कार्य और पदार्थ उसका कर्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्ता के बिना कार्य नहीं और दूसरा कोई कर्ता नहीं।

कोई भी अवस्था हो—शुद्ध अवस्था, विकारी अवस्था या जड़ अवस्था, उसका कर्ता न हो ऐसा नहीं होता, तथा दूसरा कोई कर्ता हो-ऐसा भी नहीं होता।

—तो क्या भगवान उसके कर्ता हैं?

—हाँ, भगवान कर्ता अवश्य हैं, परन्तु कौन भगवान? अन्य कोई भगवान नहीं परन्तु यह आत्मा स्वयं अपना भगवान है, वही कर्ता होकर अपने शुद्ध-अशुद्ध परिणामों को करता है। जड़ के परिणाम को जड़ पदार्थ करता है; वह अपना भगवान है। प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी अवस्था की रचयिता ईश्वर है। स्व का स्वामी है पर का स्वामी मानना मिथ्यात्व है।

संयोग के बिना अवस्था नहीं होती- ऐसा नहीं है; परन्तु वस्तु परिणमित हुए बिना अवस्था नहीं होती-ऐसा सिद्धान्त है। अपनी पर्याय के कर्तृत्व का अधिकार वस्तु का अपना है, उसमें पर का अधिकार नहीं है।

इच्छारूपी कार्य हुआ उसका कर्ता आत्मद्रव्य है।

उस समय उसका ज्ञान हुआ, उस ज्ञान का कर्ता आत्मद्रव्य है।

पूर्व पर्याय में तीव्र राग था इसलिये वर्तमान में राग हुआ, इसप्रकार पूर्व पर्याय में इस पर्याय का कर्तापना नहीं है। वर्तमान में आत्मा वैसे भावरूप परिणमित होकर स्वयं कर्ता हुआ। इसीप्रकार ज्ञानपरिणाम, श्रद्धापरिणाम, आनन्दपरिणाम उन सबका कर्ता आत्मा है। पर कर्ता नहीं, पूर्व के परिणाम भी कर्ता नहीं तथा वर्तमान में उसके साथ वर्तते हुए अन्य परिणाम भी कर्ता नहीं हैं—आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता है। शास्त्र में पूर्व पर्याय को कभी-कभी उपादान कहते हैं, वह तो पूर्व-पश्चात् की संधि बतलाने के लिये कहा है; परन्तु पर्याय का कर्ता तो उस समय वर्तता हुआ द्रव्य है, वही परिणामी होकर कार्यरूप परिणमित हुआ है। जिस समय सम्यग्दर्शन-पर्याय हुई उस समय उसका कर्ता आत्मा ही है; पूर्व की इच्छा, वीतराग की वाणी या शास्त्र-वे कोई वास्तव में इस सम्यग्दर्शन के कर्ता नहीं हैं।

उसीप्रकार ज्ञानकार्य का कर्ता भी आत्मा ही है। इच्छा का ज्ञान हुआ, वहाँ वह ज्ञान कहीं इच्छा का कार्य नहीं है और इच्छा वह ज्ञान का कार्य नहीं है। दोनों परिणाम एक ही वस्तु के होनेपर भी उनको कर्ता-कर्मपना नहीं है; कर्ता तो परिणामी वस्तु है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल में खट्टो-खारी अवस्था थी और ज्ञान ने तदनुसार जाना; वहाँ खट्टे-खारे तो पुद्गल के परिणाम हैं और पुद्गल उनका कर्ता है; तत्सम्बन्धी जो ज्ञान हुआ उसका कर्ता आत्मा है; उस ज्ञान का कर्ता वह खट्टो-खारी अवस्था नहीं है। कितनी स्वतंत्रता!! उसीप्रकार शरीर में रोगादि जो कार्य हो उसके कर्ता वे पुद्गल हैं, आत्मा नहीं; और उस शरीर की अवस्था का जो ज्ञान हुआ उसका कर्ता आत्मा है। आत्मा कर्ता होकर ज्ञानपरिणाम को करता है परन्तु शरीर की अवस्था को वह नहीं करता।

यह तो परमेश्वर होने के लिये परमेश्वर के घर की बात है। परमेश्वर सर्वज्ञ-देव कथित यह वस्तुस्वरूप है।

जगत में चेतन या जड़ अनंत पदार्थ अनंतरूप से नित्य रहकर अपने वर्तमान कार्य को करते हैं; प्रत्येक परमाणु में स्पर्श-रंग आदि अनंत गुण; स्पर्श की चिकनी आदि अवस्था, रंग की काली आदि अवस्था, उस-उस अवस्था का कर्ता परमाणुद्रव्य है; चिकनी अवस्था वह काली अवस्था की कर्ता नहीं है।

इसप्रकार आत्मा में—प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण हैं; ज्ञान में केवलज्ञानपर्याय-रूप कार्य हुआ, आनन्द में पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, उसका कर्ता आत्मा स्वयं है। मनुष्य-शरीर अथवा स्वस्थ शरीर के कारण वह कार्य हुआ ऐसा नहीं है; पूर्व की मोक्षमार्गपर्याय के आधार से वह कार्य हुआ-ऐसा भी नहीं है; ज्ञान और आनन्द के परिणाम भी एक-दूसरे के आश्रित नहीं हैं; द्रव्य ही परिणमित होकर उस कार्य का कर्ता हुआ है। भगवान आत्मा स्वयं ही अपने केवलज्ञानादि कार्य का कर्ता है, अन्य कोई नहीं है।—यह तीसरा बोल हुआ।

(४) वस्तु की स्थिति सदा एकरूप (-कूटस्थ) नहीं रहती

सर्वज्ञदेव द्वारा देखा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह नित्य अवस्थित रहकर प्रतिक्षण नवीन अवस्थारूप परिणमित होता रहता है। पर्याय बदले बिना ज्यों का त्यों कूटस्थ ही रहे-ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, इसलिये उसमें सर्वथा अकेला नित्यपना नहीं है, पर्याय से परिवर्तनपना भी है। वस्तु स्वयं ही अपनी पर्यायरूप से पलटती है, कोई दूसरा उसे परिवर्तित करे—ऐसा नहीं है। नयी-नयी पर्यायरूप होना वह वस्तु का अपना स्वभाव है, तो कोई उसका क्या करेगा? इन संयोगों के कारण यह पर्याय हुई;—इसप्रकार संयोग के कारण जो पर्याय मानता है उसने वस्तु के परिणमनस्वभाव को नहीं जाना है, दो द्रव्यों को एक माना है। भाई, तू संयोग से न देख, वस्तु के स्वभाव को देख। वस्तु का स्वभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही ऐसा है कि वह नित्य एकरूप न रहे। द्रव्यरूप से एकरूप रहे परन्तु पर्यायरूप से एकरूप न रहे, पलटता ही रहे—ऐसा वस्तु का स्वरूप है।

इन चार बोलों से ऐसा समझाया कि वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कार्य की कर्ता है,-यह निश्चित सिद्धान्त है।

इस पुस्तक का पृष्ठ पहले ऐसा था और फिर पलट गया; वहाँ हाथ लगने से पलटा हो ऐसा नहीं है; परन्तु उन पृष्ठों के रजकणों में ही ऐसा स्वभाव है कि सदा एकरूप उनकी स्थिति न रहे; उनकी अवस्था बदलती रहती है; इसलिये वे स्वयं पहली अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्थारूप हुए हैं, दूसरे के कारण नहीं। वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्था होती ही रहती है; वहाँ संयोग के कारण वह भिन्न अवस्था हुई—ऐसा अज्ञानी का भ्रम है, क्योंकि वह संयोग को ही देखता है परन्तु वस्तु के स्वभाव को नहीं देखता। वस्तु स्वयं परिणमनस्वभावी है, इसलिये वह एक ही पर्यायरूप नहीं रहती;—ऐसे स्वभाव को जाने तो किसी संयोग से अपने में या अपने से पर में परिवर्तन होने की बुद्धि छूट जाये और स्वद्रव्य की ओर देखना रहे, इसलिये मोक्षमार्ग प्रगट हो।

पानी पहले ठंडा था और चूल्हे पर आने के बाद गर्म हुआ, वहाँ उन रजकणों का ही ऐसा स्वभाव है कि उनकी सदा एक अवस्थारूप स्थिति न रहे; इसलिये वे अपने स्वभाव से ही ठंडी अवस्था को छोड़कर गर्म अवस्थारूप परिणमित हुए हैं; इसप्रकार स्वभाव को न देखकर अज्ञानी संयोग को देखता है कि-अग्नि के आने से पानी गर्म हुआ। यहाँ आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्वतंत्र वस्तुस्वरूप समझाया है; उसे समझ ले तो कहीं भ्रम न रहे।

एक समय में तीनकाल—तीनलोक को जाननेवाले सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में आया हुआ यह तत्त्व है और संतों ने इसे प्रगट किया है।

बर्फ के संयोग से पानी ठंडा हुआ और अग्नि के संयोग से गर्म हुआ—ऐसा अज्ञानी देखता है, परन्तु पानी के रजकणों में ही ठंडी-गर्म अवस्थारूप परिणमित होने का स्वभाव है उसे अज्ञानी नहीं देखता। भाई! वस्तु का स्वरूप ऐसा ही है कि अवस्था की स्थिति एकरूप न रहे। वस्तु कूटस्थ नहीं है परन्तु बहते हुए पानी की भाँति द्रवित होती है—पर्याय को प्रवाहित करती है; उस पर्याय का प्रवाह वस्तु में से आता है, संयोग में से नहीं आता। भिन्न प्रकार के संयोग के कारण अवस्था की भिन्नता हुई, अथवा संयोग बदले इसलिये अवस्था बदल गई—ऐसा भ्रम अज्ञानी को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है, परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। यहाँ चार बोलों द्वारा वस्तु का स्वरूप एकदम स्पष्ट किया है।

१–परिणाम ही कर्म है।

२–परिणामी वस्तु के ही परिणाम हैं, अन्य के नहीं।

३–वह परिणामरूपी कर्म कर्ता के बिना नहीं होता।

४–वस्तु की स्थिति एकरूप नहीं रहती।

—इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है—यह सिद्धांत है।

इन चारों बोलों में तो बहुत रहस्य भर दिया है। उसका निर्णय करने से भेदज्ञान तथा द्रव्यसन्मुखदृष्टि से मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

प्रश्नः—संयोग आये तदनुसार अवस्था बदलती दिखायी देती है न?

उत्तरः—यह बराबर नहीं है; वस्तुस्वभाव को देखने से ऐसा दिखायी नहीं देता; अवस्था बदलने का स्वभाव वस्तु का अपना है—ऐसा दिखायी देता है। कर्म का मंद उदय हो इसलिये मंद राग और तीव्र उदय हो इसलिये तीव्र राग—ऐसा नहीं है; अवस्था एकरूप नहीं रहती परन्तु अपनी योग्यता से मंद-तीव्ररूप से बदलती है–ऐसा स्वभाव वस्तु का अपना है, वह कहीं पर के कारण नहीं है।

भगवान के निकट जाकर पूजा करे या शास्त्र-श्रवण करे उस समय अलग परिणाम होते हैं, और घर पहुँचने पर अलग परिणाम हो जाते हैं; तो क्या संयोग के कारण वे परिणाम बदले? नहीं; वस्तु एकरूप न रहकर उसके परिणाम बदलते रहें—ऐसा ही उसका स्वभाव है; उन परिणामों का बदलना वस्तु के आश्रय से ही होता है, संयोग के आश्रय से नहीं। इसप्रकार वस्तु स्वयं अपने परिणाम की कर्ता है–यह निश्चित् सिद्धान्त है। इन चार बोलों के सिद्धान्तानुसार वस्तुस्वरूप को समझे तो मिथ्यात्व की जड़ें उखड़ जायें और पराश्रितबुद्धि छूट जाये। ऐसे स्वभाव की प्रतीति होने से अखंड स्ववस्तु पर लक्ष जाता है और सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञानपरिणाम का कर्ता आत्मा स्वयं है। पहले अज्ञानपरिणाम भी वस्तु के ही आश्रय से थे और अब ज्ञानपरिणाम हुए वे भी वस्तु के ही आश्रय से हैं।

मेरी पर्याय का कर्ता दूसरा कोई नहीं है, मेरा द्रव्य ही परिणमित होकर मेरी पर्याय का कर्ता होता है–ऐसा निश्चय करने से स्वद्रव्य पर लक्ष जाता है और भेदज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा सम्यग्ज्ञान होता है। अब, उस काल कुछ चारित्र-दोष से रागादि परिणाम रहे वह भी अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा का परिणमन होने से आत्मा का कार्य है–ऐसा धर्मी जीव जानता है; उसे जानने की अपेक्षा से व्यवहारनय को उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है। धर्मी को द्रव्य का शुद्धस्वभाव लक्ष में आ गया है इसलिये सम्यक्त्वादि निर्मल कार्य होते हैं और जो राग शेष रहा है उसे भी वे अपना परिणमन जानते हैं परन्तु अब उसकी मुख्यता नहीं है, मुख्यता तो स्वभाव की हो गई है। पहले अज्ञानदशा में मिथ्यात्वादि परिणाम थे वे भी स्वद्रव्य के अशुद्ध उपादान के आश्रय से ही थे; परन्तु जब निश्चित् किया कि मेरे परिणाम अपने द्रव्य के ही आश्रय से होते हैं तब उस जीव को मिथ्यात्वपरिणाम नहीं रहते; उसे तो सम्यक्त्वादिरूप परिणाम ही होते हैं। अब जो रागपरिणमन साधकपर्याय में शेष रहा है उसमें यद्यपि उसे एकत्वबुद्धि नहीं है तथापि वह परिणमन अपना है—ऐसा वह जानता है। ऐसा व्यवहार का ज्ञान उस काल प्रयोजनवान है। सम्यग्ज्ञान होता है तब निश्चय-व्यवहार का स्वरूप यथार्थ ज्ञात होता है, तब द्रव्य-पर्याय का स्वरूप ज्ञात होता है, तब कर्ता-कर्म का स्वरूप ज्ञात होता है और स्वद्रव्य के लक्ष से मोक्षमार्गरूप कार्य प्रगट होता है; उसका कर्ता आत्मा स्वयं है।

—इसप्रकार इस २११वें कलश में आचार्यदेव ने चार बोलों द्वारा स्पष्टरूप से अलौकिक वस्तुस्वरूप समझाया है, उसका विवेचन पूर्ण हुआ।

इति स्वतंत्रता की घोषणा पूर्ण

* जय जिनेन्द्र *

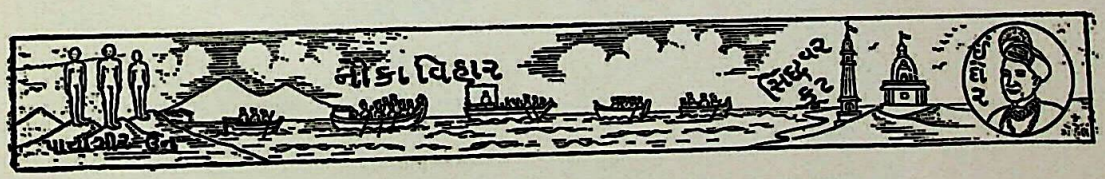

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—: शुद्धिपत्र :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
४	१८	केवलज्ञान का साधनरूप यह मुनिधर्म मूल सम्यकदर्शन है,	केवलज्ञान के साधनरूप इस मुनिधर्म का मूल सम्यक्दर्शन है,
४	१९	सर्वज्ञदेव को	सर्वज्ञदेव की
१०	१	सवज्ञ	सर्वज्ञ
१०	४	मोक्षमाग	मोक्षमार्ग
२१	२	दशन	दर्शन
३२	३०	पेसा मेद पड़ता है।	पेसे मेद नहीं पड़ते, चारित्र में अल्प और अधिक पेसे मेद पड़ते हैं।
३३	११	धर्मी का	धर्मो को
४६	३	अर्थदंड	अनर्थदंड
५०	३१	की	कि
५५	(श्लोक पंक्ति ३)	तद्धृति	तद्वृत्ति
७०	१४	शाभा	शोभा
७०	१६	बधता	बंधता
७३	२६	अपना	अपनी
७७	६	स्वग	स्वर्ग
८६	७	की	कि
९१	२४	विशेष	विषय
९९	८	उसका	उसके
९९	९	मुनिपना	मुनिपने
११५	३	कसा	कैसा
११५	(श्लोक पंक्ति २)	सामायिके	सामयिके
११८	१७	पेसा	पेसी
१२०	१०	यहाँ ता	यहाँ तो
१३७	३०	पेस	पेसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi